उदासीन रुप से चलने में सहायक हो। जैसे जल मछली को चलने में सहायक होता है।

४ अधर्मास्तिकाय-जो जिवों और पुग्दलों को उदासीन रुप से ठहरने में सहकारी हो। जैसे-धूपमें मुसाफिर को पेड की छाया ठहरने में सहायक होती है।

५ आकाशास्तिकाय-जो द्रव्य अन्य द्रव्यों को स्थानदान (ठहरने की जगह) दे।

कालद्रव्य-जो सब द्रव्यों के परिणमन यानी ...ने में सहकारी हो। प्रत्येक पदार्थ नये से पुरानी व पुराने से नया इसी काल द्रव्य की सहायता से होता रहता है।

प्रश्न-हे प्रभो धर्म व अधर्म द्रव्य जीव पुग्दल को चलने में और ठहरने में क्यों सहकारी होते हैं? अन्य द्रव्यों को सहकारी क्यों नहीं होते?

उत्तर-हे भव्य! छहों द्रव्यों में केवल जीव व व पुग्दल ये दोनों ही द्रव्य क्रियावान हैं अर्थात स्थान

से स्थानान्तर हो सकते हैं बाकी के द्रव्य क्रियावान नहीं हैं। वे यथास्थान स्थित रहा करते हैं। इस लिये धर्म अधर्म द्रव्यकी सहायता की उन्हें आवश्यक्ता नहीं होती।

शिष्य-हे प्रभो! छहों द्रव्यों का संक्षेप में स्वरुप तो मेरी समझ में आ गया। अब कृपाकर सप्त तत्वों का स्वरुप समझाने का कष्ट उठाइये।

गुरु-हे भव्य! सप्त तत्व निम्न प्रकार हैं।

१ जीव, २ अजीव, ३ आश्रव, ४ बंध, ५ संवर ६ निर्जरा, ७ मोक्ष। इनमें जीव अजीव ये २ की सामान्य हैं अर्थात द्रव्य स्वरूप है और शेष ५ क्रोक्त उनके विशेष हैं यानी पर्याय स्वरुप हैं। इन सातों तत्वों का स्वरुप निम्न प्रकार है।

जीव-जिसमें चैतन्य गुण पाया जावे अर्थात जिस में जानने देखने की शक्ति हो एवं जो सुख दुःख की अवस्थाको जानता है।

अजीव तत्व-जिसमें जानने देखने की शक्ति नहीं होती अर्थात जिस में चेतनागुण नहीं पाया जावे।

अजीव द्रव्य ५ हैं १ पुग्दल. २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश और ५ काल जिनका कि स्वरुप–कथन ऊपर कीया जा चुका है।

इन द्रव्यों में केवल पुग्दल द्रव्य रुपी है शेष अरुपी है अर्थात वे किसी भी इन्द्रिय के विषय गोचर नहीं होते वे मात्र श्रद्धा के विषय है। पुग्दल में स्पर्श रस गंध और वर्ण ये ४ गुण पाये जाते हैं इस लिये पुग्दल रुपी है। वैसे तो पुग्दलकी अवगाहना बहुत छोटी है जो चक्षु इंद्रिय गोचर नहीं हो सकती परंतु स्कंध रुप होनेकी अर्थात परस्पर मिलने की शक्ति अतः पुग्दल स्कंध चक्षु इंद्रिय द्वारा देखने में आते हैं। जो २ पदार्थ वर्त्तमान में चक्षु इंद्रिय द्वारा देखने में आते है वे सब पौग्दिलिक स्कंध ही समझना चाहिये। जैसे हमारा शरीर, जल, अग्नि, पृथ्वी, वायु, वनस्पति, घर मकानादि।

जीव द्रव्यभी किसीभी इंद्रिय द्वारा नहीं जाना जा सकता क्योंकि वह भी अरुपी है तो भी स्वसंवेदन ज्ञान से उसका अनुभव किया जा सकता है। जैसे एक

अंधा व्यक्ति मिश्री की डली को देख नहीं सकता तो भी वह मिश्री के स्वाद का अनुभव कर सकता है। ऐसे ही छद्मस्थ जीव आत्मा का आकार देख नहीं सकता परन्तु ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा का अनुभव कर सकता है।

इस तरह स्थूल रुप से जीव व अजीव द्रव्य का स्वरुप तुमसे कहा। उसी का नाम सामान्य का ज्ञान है। परंतु सामान्यका ज्ञान तभी कार्यकारी हो सकता है जब उसको उसी के विशेष का ज्ञान हो अर्थात उसकी अवस्थाओं का ज्ञान हो जिसे हम शास्त्रीय भाषा में पर्यायें कहते हैं। वे विशेष अवस्थायें (पर्यायें) ५ हैं।

१ आश्रव २ बंध ३ संवर ४ निर्जरा ५ मोक्ष। द्रव्य व पर्याय का ज्ञान करना अर्थात सामान्य और विशेष का ज्ञान करना सो प्रमाण ज्ञान कहलाता है। मात्र सामान्य का ही ज्ञान करना अथवा केवल विशेष का ही ज्ञान करना सो नय ज्ञान कहलाता है। सामान्य अर्थात द्रव्य का ज्ञान करना उसको शास्त्र में निश्चय नय कहेते है। और विशेष अर्थात पर्याय का ज्ञान करना उसको व्यवहार नय कहते है। मात्र निश्चय नय का ही ज्ञान करने से अथवा मात्र व्यवहार नय का ही ज्ञान करने से आत्मा अपना कल्याण नहीं कर सकता। जिस प्रकार एक पक्ष से पक्षी नहीं उड सकता

उसी तरह एक नय का ज्ञान आत्म कल्याण में कार्य कारी नहीं हो सकता। दोनो नयों का ज्ञान ही आत्म हित में साधक हो सकता है।

जब गुरु एक नय का उपदेश देते हैं तब उनकी दृष्टि में दूसरा नय अवश्य गौंड रहता है क्योंकि वचन द्वारा एक साथ दोनों नयो का उपदेश संभव नहीं। परन्तु जो जीव केवल एक ही नय को हठ पूर्वक ग्रहण कर दूसरे पर दृष्टि नहीं रखता वह अपना कल्याण नहीं कर शकता। ऐसे ही एक नयावलम्बी गुरु द्वार दिये गये उपदेश से भी आत्मा अपना कल्याण नहीं कर सकता। मात्र एक नय का जिसको ज्ञान है उस जीवको शास्त्र में निश्चयाभासी अथवा व्यवहारा भासी जीव कहा है। व्यवहार हमेशा निश्चय पूर्वक ही होना चाहिये ऐसा जिसका ज्ञान है उस जीव के व्यवहार को व्यवहार कह जा सकता है। व्यवहार निश्चय पूर्वक ही होता है इसके विपरित मात्र व्यवहार का ज्ञान व्यवहारा भाष कहलाता है। ऐसे ही विना व्यवहार का ज्ञान किये मात्र निश्चयका ज्ञान करना भी निश्चयाभाप कहलता है।

स्थूल रुपसे निश्चय और व्यवहार नयका ऐसा स्वरुप है अर्थात द्रव्य और गुण का नाम निश्चय है

और द्रव्य और गुणकी अवस्था का नाम व्यवहार है। व्यवहार दो प्रकार का होता है १ शुद्ध व्यवहार २ अशुद्ध व्यवहार।

शुद्धव्यवहार—जो गुण अथवा द्रव्य किसी अन्य द्रव्य की सहायता विना अपने आप स्वाभाविक अवस्था धारण करता है उस अवस्था का नाम शुद्ध व्यवहार है। जैसे आत्मा के ज्ञान गुण की केवल ज्ञान रूप अवस्था होना अथवा आत्मा की सिद्ध अवस्था होना।

अशुद्ध व्यवहार—जो द्रव्य अथवा गुण पर द्रव्य की पर्याय के आधीन हो कर अपनी अवस्था धारण करता है। उस अवस्था का नाम ही अशुद्ध व्यवहार है। जैसे ज्ञान गुण की मति श्रुत अवधि मनः पर्यय अवस्था होना। एवं चारित्र गुण की पुन्य पाप रूप अवस्था होना अथवा जीव द्रव्य की मनुष्य देव आदि अवस्था होना।

यही बात भगवंत कुंदकुंद स्वामीने पंचास्तिकाय ग्रंथकि गाथा १६ की टीकामे आचार्यवर अमृतचन्द्र सूरीने कहा है कि

" पर्य्यायास्त्वगुरुलघुगुणहानिवृद्धिनिर्वृत्ताःशुद्धः। सूत्रोपात्तास्तु सुरनारकतिर्यङ्मनुष्यलक्षणाःपरद्रव्यसंबन्धनिर्वृत्तत्वादशुद्धाश्चेति॥

अर्थ—जो अगुरुलघु षटगुणी हानिवृद्धिरूप आगम प्रमाण-

ताकर जानी जाती है, वह तो शुद्ध पर्याय कहलाती है और जो परद्रव्यके संबंधसे चारगतिरुप देव, नारकी, तिर्यन्च, मनुष्य है, ते अशुद्ध आत्माकी पर्याय है।

अब अवस्था का स्वरुप कहा जाता है सो लक्ष्य पूर्वक सुनने से ही तेरा कल्याण होगा।

आश्रव—आश्रव दो प्रकार का होता है। प्रथम चेतन आश्रव। द्वितीय जड आश्रव। उसीको शास्त्रीय भाषा में भावाश्रव व द्रव्याश्रव कहते हैं।

समयसार आश्रव अधिकार में गाथा नं. १६४-१६५ में श्री कुंद कुंद स्वामी ने वही कहा है।

मिच्छत्तं अविरमणं कषायजोगा य सण्णसण्णा दु !
दुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥ १६४ ॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिपि होदी जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥ १६५ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाच और योग पे चार आश्रव के भेद चेतन के और पुग्दल के विकार ऐसे दो २ भेद जुदे २ हैं उनमें से चेतन के विकार हैं वे जीव में बहुत भेद लीये हुये हैं वे उस जीवकेही अभेद रुप परिणाम-हैं। और जो मिथ्यात्व आदि पुग्दल के विकार हैं वे तो ज्ञानावरणादि कर्मों के बंधन के कारण और उन मिथ्यात्वादि भावो को भी रागद्वेष आदि भावों को करने वाला जीव कारण होता है।

चेतन आश्रव-आत्मा में अनंत गुण है उनमें एक गुण योग नामका भी है। उस योग की २ अवस्थायें होती है। एक शुद्ध अवस्था और दूसरी अशुद्ध अवस्था। इनमें वे एक काल में नियम से एक ही अवस्था होती है। जब तक वह गुण सापेक्ष अवस्था धारण करता है उस अवस्था का नाम अशुद्ध अवस्था है। और जब वही गुण निर्पेक्ष अवस्था में होता है तो उस अवस्थाका नाम शुद्ध अवस्था है। शुद्ध अवस्था में उस गुण की अकंपरुप अवस्था होती है जो अवस्था चौदहवें गुण स्थानके पहिले समय में आत्मा की होती है।

अशुध्ध अवस्था उसे कहते है जो सकम्प रूप हो उसी को चेतन आश्रव कहते है। ऐसी अवस्था जीवकी प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरह वें गुणस्थान के अंत तक रहती है अर्थात आश्रव तेहरवे गुण स्थान तक रहता है।

जड आश्रव-लोक में पुग्दल वर्गणा कइ प्रकारकी होती है उसी में एक वर्गणा ऐसी है जिसको कार्मण वर्गणा कहते है। उस वर्गणा का आत्म प्रदेशों के समीप आना उसका नाम जड आश्रव है।

आगम में आश्रव के सत्तावन भेद दिखलाये है वे सब निमित्तकी अपेक्षा से है। आश्रव में जो कारण होता है उसीको निमित्त कहते है। जैसे रोटी नियम से आटे की ही बनेगी परन्तु रोटी बनाने में सिगडी,

कोयला, अग्नि, बेलन, चकला पानी रोटी बनाने वाली आदि सामग्रि की आवश्यक्ता पडती है। इन सबको निमित्त कहते है। लेकिन इन सबका कोई भी अंश रोटी में नहीं जाता। रोटी तो आटे से ही बनेगी। ऐसे ही आत्मा के आश्रव होने में मन वचन कायादि कारण पडते हैं लेकिन इन सबको कारण में कार्यका उपचार करके निमित को अपेक्षा आश्रव कह दिया करते हैं। निमित को आश्रव कहना केवल उपचार मात्र है। जैसे व्यवहार में बालक लकडी को घोडा कहता है परन्तु यथार्थ में लकडी घोडा नहीं है। ऐसा व्यवहार में बोला जाता है तोभी ज्ञान यथार्थ ही होता है। इसी तरह धर्म मार्ग में उपचार से कहने का व्यवहार है कि आश्रव बहुत प्रकार का होता है परन्तु इतना ही समझना कि आश्रव बहुत प्रकार के नहीं होते मात्र एक ही होता है जो कि आत्म प्रदेशों का कम्पन रुप है।

बंध—बंध बे प्रकार का होता है। १ चेतन बंध २ पुदगल बंध उसीको शास्त्रीय भाषा में भावबंध और द्रव्यबंध कहते है

चेतन बंध—बंध के कारण चार हैं १ मिथ्यात्व २ अविरति ३ कषाय ४ योग। ये चारों ही आत्मा की अवस्थायें हैं। इस अवस्था का नाम चेतन बंध है।

यही बात भगवान कुंद कुंद स्वामीने पंचास्तिकाय ग्रन्थ मे गाथा १४८ से कहा है कि ।

जोगनिमित्तं ग्रहणं जोगो मनोवचनकायसंभूत ।
भावनिमित्तो बंधो भावो रदिरागद्वेषमोहयुतः ॥ १४८ ॥

अर्थ—योगोका निमित्त पाकर कर्म पुद्गलोका जीवके प्रदेशोसे परस्पर एक क्षेत्रावगाह कर ग्रहण होता है, योग जो है सो मनवचनकाय की क्रियाद्वारा उत्पन्न होता है । ग्रहण तो योगोसे होता है, और बंध एक अशुद्धोपयोगरूप भावोके निमितसे होता है और वह भाव जो है सो कैसा है कि. पदार्थोसे इष्टानिष्ट रतिरागद्वेष मोह करके संयुक्त होता है ।

मिथ्यात्व—वस्तु का जैसा स्वरुप है उसके विपरीत मानने की आत्मा की जो अवस्था होती है उस अवस्था का नाम मिथ्यात्वबंध कहा जाता है । जैसे यह शरीर मेरा है मैं इसकी रक्षा करता हूं । मैं परजीव को मार सकता हुं, बचा सकता हुं, सुखी दुखी कर सकता हुं एवं पर जीव मुझे मार सकते है बचा सकते है, एवं सुखी दुखी भी कर सकते हैं । देव शास्त्र गुरु मेरा कल्याण कर सकते हैं आदि जो धारणा रुप भाव होता है उसका नाम मिथ्यात्व भाव है । ऐसे ही भाव को मिथ्यात्व बंध कहते है ।

यही बात भगवन्त कुंद कुंद स्वामीने प्रवचनसार ग्रन्थ मे कहा है कि,

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति ।
खुब्भदि तेणोच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥ ८३ ॥

अर्थ—आत्माका द्रव्य, गुण, पर्यायोसे जो विपरीत श्रद्धा रुप भाव है सो मोह असा नाम होता है, अर्थात जीस भावसे यहजीव धतुरा खाने वाले पुरुष के समान द्रव्य, गुण, पर्यायोको यथार्थ नही जानता है और न श्रद्धान करता है उस भावको मोह कहते है। उस दर्शन मोह करके आच्छादित जो यह जीव सो रागद्वेष भावको पाकर क्षोभ पाता हे। अर्थात विपरित श्रद्धा के कारण पर द्रव्यको अपनी द्रव्य जानता हे, परगुणको आत्मगुण मानता है, और पर पर्यायको आत्म पर्याय जानकर अंगीकार करता है।

असा मिथ्याद्रष्टि जीवोका चिन्ह भगवन्त कुंद कुंद स्वामीने प्रवचनसार ग्रन्थ की गाथा ८५ मे कहा है कि,

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु ।
विसएसु अप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥ ८५ ॥

अर्थ—पदार्थो मे जैसेका तैसा ग्रहण नहि करना अन्यका अन्य जानना, तथा त्तिर्यंच और मनुष्यो मे अपनत्व बुद्धि सहित दया रुप भाव, और संसाके पदार्थोमे इष्टानिष्ट रुचि पूर्वक करना इतने मोह के चिन्ह है।

और ऐसा भाव नहीं होना अर्थात् वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा मानना, श्रद्धा करना उस भावका नाम सम्यक्त्व भाव है। सम्यक् दर्शन हो जाने पर मिथ्यात्वरूप भाव का बंध नहीं होता है।

अविरति—जिससे आत्मा में परद्रव्यों में रागादिरुप प्रवृत्ति का तथा त्रस और स्थावर जीवों को मारने का भाव होता है उस भाव का नाम असंयमभाव कहलाता है, इसीको दूसरे शब्दो में अविरति कहते हैं।

कषाय—आत्मा के चारित्र गुण की वैभाविक परिणति को कषायभाव कहलाते हैं। आत्मा में ४ प्रकार की कषाय के भाव होते हैं। १ अनंतानुबंधी, २ अप्रत्याख्यान, ३ प्रत्याख्यान और ४ संज्वलन। इनमें से प्रत्येक के चार २ भाव और होते हैं जोकि क्रोध मान माया और लाभरुप होते हैं। इन कषाय रुप भावों का नाम चेतनबंध है। ये अनंतानुबंधी आदि चार कषायरुप भाव हैं वे कषाय की तीव्रता मंदता आदि के कारण नहीं हैं। परन्तु जबतक आत्मा में अनंतानुबंधी रुप कषायभाव होता है तबतक आत्मा में स्वरुपाचरण चारित्र उत्पन्न नहीं होता। जबतक अप्रत्याख्यानावरणरुप भाव होता है तबतक आत्मा में देशचारित्ररुप भाव प्रगट नहीं होता। जबतक आत्मा में प्रत्याख्यानावरणरुप भाव होता है तबतक आत्मा में सकल संयमरुप भाव प्रगट नहीं होते। और

जबतक आत्मा में संज्वलन कषायरूप भाव होता है तबतक आत्मा में सम्पूर्ण वीतरागवृत्ति जागृत नहीं होसकती।

अनंतानुबंधी—जो आत्मा के स्वरूप में रुचिरूप आचरण भाव न होने दे उसी भाव का नाम अनन्तानुबन्धी भाव कहा जाता है। जैसे लोक के सब द्रव्य स्वतंत्र हैं वैसा आचरणरूप न मानकर अमुक द्रव्य को इष्ट मानलेना व अन्य किसी को अनिष्ट मान लेना। संसार में जितने पदार्थ देखने में आते है अथवा जिनका विकल्प हो सकता है उन सब पदार्थों को नोकर्म कहते हैं। कोई भी नोकर्म संसार में अच्छेबुरे नहीं परन्तु आत्मा अनंतानुबंधी कषाय के कारण उनमें इष्टानिष्ट बुद्धि करता है। उसी बुद्धि का नाम अनंतानुबंधी कषायबंध है. जिसने अपनी बुद्धि में एक पदार्थ को इष्ट मान लिया है उसीने पदार्थ अनंत होने से अव्यक्तरूप में अनंत पदार्थों को अपनी बुद्धि में इष्ट मान लिया है। ऐसी ही मान्यता का नाम अनंतानुबंधी लोभ है। जिसने अपनी बुद्धि में एक पदार्थ को अनिष्ट मान लिया है उसीने पदार्थ अनंत होने से अव्यक्त रूप में अनंत पदार्थों को अपनी बुद्धि में अनिष्ट मान लिया है ऐसी मान्यता का नाम अनंतानुबंधी क्रोध है। इस प्रकार आत्मा में जो भाव होते हैं वे ही भाव अनंतानुबंधी कषायबंध भाव कहलाते हैं।

अप्रत्याख्यान कषाय—जो आत्मा बुद्धिपूर्वक त्रस

स्थावर हिंसा करने के भाव का त्याग नहीं करता है। उस भाव का नाम अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। सप्तम नर्कका सम्यक्दृष्टि जीवका और सर्वार्थ सिद्धि देवका अप्रत्याख्यानावरण कषाय भाव होते सन्ते, परिणामो से कितना तारतम्य है उसका ठीक ठीक ज्ञान करना चाहिये। एवं अभक्ष्यरुप जो पदार्थ है उनके खाने में त्यागरुप भाव न हो ऐसा जो भाव है उसका नाम अप्रत्याख्यान बंधभाव है। अभक्ष्य का अर्थ साक्षात मांस व मदिरादि नही लेना चाहिये क्योंकि इन पदार्थों को सेवन करने का उसका भाव होता ही नहीं है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय—त्रस और स्थावर जीवों को मारने अथवा दुःखदेने आदि का जो भाव होता था उस भाव से त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा करनेरुप भाव न हो परन्तु स्थावर जीवों की हिंसा करते संते विवेक हो ऐसा जो भाव होता है उस भाव का नाम प्रत्याख्यानावरण कषायभाव है। इस भाव में त्रस जीवों को रक्षा होते हुये अनिवार्य स्थावर हिंसा विवेक पूर्वक हुआ करती है। जैसे भक्ष्य (शुद्ध) आहार करने का भाव है वह तो मंद पापरुप भाव है परन्तु अभक्ष्य पदार्थ खाने का जो तीव्रपापभाव है वह पापरुप भाव इस कषाय में नहीं होता है। अपने लिये जो शुद्ध आहार बनाया है वह अपने खाने के लिये तो पाप का ही कारण है यदि वही आहार मुनिराज को नवधा भक्तिपूर्वक देने का भाव

है तो वह भाव पुण्यभाव है ये दोनों भाव संसार के कारण हैं क्योंकि दोनों ही भाव, आश्रव भाव हैं।

संज्वलनकषाय—त्रस और स्थावर की हिंसा करनेरुप भाव इस कषाय में होता ही नहीं है। इसी तरह किसी भी प्रकार का बाह्य परिग्रह रखने का भी भाव नहीं होता। परन्तु शुद्ध आहार ग्रहण करनेरुप मन्द पाप भाव एवं शरीर में रोगादि हो जाने पर यह रोग कब मिट जावे इस प्रकार रोग का इलाज न करने व करानेरुप भाव रहित किंचित मंद पापरुप भाव होता है। इस कषाय में लौकिक बात करनेरुप भाव भी नहीं होता है।। यदि ऐसा भाव हो जावे तो वह आत्मा नियम से अपने परिणाम से गिर जायगा। यही भगवान कुंदकुंदस्वामीने प्रवचनसार ग्रंथ के चारित्र अधिकार में गाथा नं. ६८–६९ में कहा है।

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसायो तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं-ण जहदि जदि संजदोण हवदि ॥६८–२६८।
णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं।
सो लोगिगोदि भणिदो संजमतव संपजुत्तोवि ॥ ६९–२६९ ॥

अर्थ– सूत्र के पदों का और अर्थों का जिसने निश्चय किया है, कषाय को जिसने उपशम किया है। जो अधिक तपवाला है ऐसा जीव भी यदि लौकिक जनों के संसर्ग को छोडता नहीं है तो वह संयत मुनि नहीं है।

जो जीव निर्ग्रंथ दीक्षा लेने से संयम व तप संयुक्त होय तो भी यदि वह ऐहिक कार्यों सहित वर्त्तता होय तो उसको लौकिक कहा है ॥

इस कषायवाला आत्मा जब गमन करता है तब चार हाथ जमीन का निरीक्षण करते हुये मेरेद्वारा किसी जीव को हिंसा न हो जावे ऐसे पुण्यरूप भाव से युक्त होता हुआ गमन करता है। एवं सदुपदेश देना, शास्त्र लिखना व जीव की रक्षा करना आदि पुण्यभाव इस कषायवाले के होते हैं। जब-तक संज्वलन कषायरूप भाव आत्मा में रहता है तबतक वह वीतराग दशाको प्राप्त नहीं हो सकता है। ऐसे कषायवाले जीवो को प्रथम में प्रथम उत्तम संगत रखना चाहिये, नहितर ऐसा भी जीवो को अपने पद से गीरने का बहोत ही संभव है। यही बात भगवन्त कुंदकुंद स्वामीने प्रवचनसार ग्रन्थ में चारित्राधिकार में गाथा ७० में लिखा है कि—

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं॥७०/२७०

अर्थ—आग के संबंध से जल की तरह मुनि भी लौकिक की कुसंगति से असंयमी होजाता है, इससे कुसंगति का त्याग कर, उत्तम मुनि जो दुख से मुक्त हुआ चाहता है तो गुणोंसे अपने समान, अथवा अपनेसे गुणो में अधिक श्रमण को इन दोनों की संगति में निवास करो।

योगबंध—अरहंत केवली का जीवों की रक्षादि का भाव नहीं होता है, केवल ज्ञायकभाव अर्थात् देखने जाननेरूप भाव है। श्रीजिनेन्द्र देव के वचन और काययोग हैं उनके कारण भगवान के आत्मप्रदेशों में हलनचलन होता है उसी का नाम योगबंध है अर्थात् आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना उसका नाम चेतन योगबंध है।

जड़बंध—आश्रव से जो कार्मण वर्गणा आत्मा के प्रदेशों के समीप आई थी उस वर्गणा का उसी समय में आत्मप्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही निश्चित समय तक रहना उसका नाम जड़बंध है।

आश्रव व बंधरूप आत्मा में जो ४ अवस्थायें होती हैं वे सब अवस्थायें संसार का ही कारण है। ऐसी अवस्था का न होना ही आत्मा के कल्याण का कारण है। इसलिये ऐसी श्रद्धा रखना कि ये दोनों अवस्थायें हेय हैं अर्थात् छोड़ने लायक हैं।

जीवों को मारने का भाव या रक्षा करने का भाव ये दोनों ही भाव आश्रव के कारण होने से हेय हैं, इन भावों से ही आत्मा चारों गतियों में भ्रमण करता है। इसलिये ऐसा भाव रखना चाहिये कि हे प्रभो ! यह आश्रवभाव कब छूट जावे और मैं कब मेरे सहज स्वाभाविक ज्ञायक स्वभाव में स्थिर हो जाऊं।

एक आत्मा श्रीमंदिरजी में अरहंत भगवान की प्रतिमा की पूजा कर रहा है। पूजा करने का अर्थ केवल मुखद्वारा स्तोत्र बोलना इतना ही नहीं है, परन्तु आत्मा में उसी काल में मन्द कषायरुप परिणाम होता है। ऐसे ही परिणाम का नाम यथार्थ में पूजा है। ऐसी पूजा करते समय आत्मा में ऐसा भाव रहता है कि यह मेरा स्वरुप नहीं है अर्थात् विकल्प करना मेरा स्वरुप नहीं है। मेरा स्वरुप तो मात्र ज्ञायक स्वभाव ही है। पूजा करते समय ऐसा अव्यक्त भाव जिसको रहता है उसका पूजारुप विकल्प भाव को नाम व्यवहार है क्योंकि उसने व्यवहार कार्य को अव्यक्त रुप में श्रद्धा में उपादेय नहीं माना है, परन्तु श्रद्धा में तो मात्र ज्ञायक भाव ही उपादेय माना है। इस प्रकार पूजा करते वक्त भी जिसको ऐसी श्रद्धा नहीं है, परंतु ऐसी श्रद्धा है कि पूजा करना तो मेरा कर्त्तव्य ही है, पूजारुप भाव तो इष्ट भाव है। इस भाव से मेरी आत्मा को लाभ है। ऐसा भाव करते २ ही मेरा मोक्ष होगा, ऐसा जिस जीव को भाव है उस जीव के इस पूजारुप भाव को व्यवहाराभासी भाव कहा है, परन्तु व्यवहार नहीं कहा है, क्योंकि इसने भक्तिरुप भाव को ही उपादेय मान रक्खा है। ऐसा भाव मात्र संसार का ही कारण है। इसी लिये कहा है कि व्यवहार निश्चयपूर्वक ही हो, तब उस व्यवहार को व्यवहार कहा जा सकता है। यदि वह पूजारुप भाव निश्चयपूर्वक नहीं है तो, उस पूजारुप भाव को व्यवहा-

राभास कहा जायगा। यही बात भगवान कुंदकुंद स्वामीने समयसार ग्रंथ के बंध अधिकार में गाथा नं. २७२ में कही है।

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छ यणयेण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ २७२ ॥

अर्थ—पूर्वकथित रीतिसे अध्यवसानरूप व्यवहारनय है, वह, निश्चयनयसे निषेधरूप जानो। जो मुनिराज निश्चय के आश्रित है वे मोक्षको पाते है। एवं श्रीअमृतचंद्राचार्यने भी समयसार के बंधाधिकारमें कलश १७३ में कहा है कि।

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बंन्धति संतो धृतिं ॥ १७३ ॥

अर्थ—सभी वस्तुओं मे सब अध्यवसान है वह जिन भगवानने त्यागने योग्य कहा है। सो आचार्य कहते है कि, हम ऐसा मानते हैं कि पर के आश्रय से प्रवर्तनेवाला सभी व्यवहार छुडाया है। इस लिये हम उपदेश करते है कि, जो सत्पुरुष हैं वे सम्यक् प्रकार एक निश्चयको ही जिस तरह हो सके उस तरह निश्चल अंगीकार करके, शुद्ध ज्ञानघनस्वरुप अपनी आत्मस्वरुप महिमामें स्थिरता क्यों नही धारते ?

व्यहारनय को जो अभूतार्थ कहा है वह तो निश्चय नय

की अपेक्षा से ही कहा है, परन्तु व्यवहार से व्यवहार नय सत्यार्थ ही है। यदि मात्र निश्चयनय ही सत्यार्थ माना जायगा तो परमार्थनय तो जीव को शरीर और राग द्वेष मोह से भिन्न कहती है। यदि इसीका एकान्त किया जाय तब शरीर, और राग द्वेष, मोह, पुद्गल मय ठहरे तब पुद्गल के घात से हिंसा नही होसकती और राग, द्वेष, मोहसे, बंध नही हो सकता इसतरह मात्र परमार्थ नय से संसार मोक्ष दोनों का अभाव हो जायगा। ऐसा एकान्त स्वरुप वस्तु का स्वरुप नहीं है। इसलिये व्यवहार नय व्यवहार की अपेक्षा से सत्यार्थ ही है। इस तरह स्याद्वाद कर दोनो नयों का विरोध मेट श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। यही बात समयसार ग्रन्थ में जीवाधिकार में गाथा ४६ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने भी कही है।

संवर—संवर २ प्रकार का होता है। एक चेतन संवर दूसरा जड़ संवर। इन्हीं को शास्त्रीय भाषा में भाव संवर व द्रव्य सवर कहा है। जिस प्रकार बंध ४ प्रकारका कहा है मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, उसी प्रकार संवर भी उसी अनुक्रम से होता है। प्रथम मिथ्यात्व का ही संवर होता है, बाद में क्रमशः अविरतिभाव, कषायभाव और योग का संवर होता है। कोई जीव ऐसी धारणा रक्खे कि हमको तो पहिले असंयमभाव का संवर करना है, मिथ्यात्व के संवर की पहिले जरूरत नहीं है, तो ऐसा कभी भी नहीं हो सकता।

संवर क्रम से ही होता है। सब से पहिले मिथ्यात्वभाव यानी परद्रव्यों में निजत्व बुद्धि, व उनमें इष्टानिष्टबुद्धि के रुचि रुप त्याग भाव से मिथ्यात्व का संवर होता है। बाद में असंयमरुप भाव यानी त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करनेरुप भाव का त्याग होने से, दूसरे असंयमभाव का संवर होता है। इसके पश्चात आत्मा में क्रोध, मान, माया, लोभादि रूप जो कषाय भाव होता था उसके न होनेरुप कषाय संवर होता है। यही बात भगवान कुंदकुंदस्वामीने पचास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा १४२ में कहा है कि

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥ १४२ ॥

अर्थ—जीस पुरुष के समस्त परद्रव्यो में प्रीतिभाव, द्वेषभाव, अथवा तत्वों का अश्रद्धा रुप मोह नही है, उस समान है सुखदुःख जिसके ऐसे महामुनि पुण्य-पापरुप आश्रवभाव को प्राप्त नही होता है। तत्पश्चात आत्मप्रदेशों की जो सकम्प अवस्था होती थी, उसके अभाव में चोथा योग संवर होता है। ऐसे ४ प्रकार की संवररुप आत्मा की अवस्था होने के बाद, तुरत सम्पूर्ण गुणों का विकारी परिणमन दूर होकर, परम सिद्धावस्था प्राप्त हो जाती है।

जड़संवर—ज्ञानावरणादि कर्मो की प्रकृतियों का

आश्रव रुक जाना सो जड़ संवर है । जैसे चतुर्थ गुणस्थान में ४१ प्रकृतियों का बंध रुक जाता है वह जड़ संवर है।

निर्जरा—संवर होने के पश्चात् आंशिक गुणों की वृद्धि होना सो निर्जरातत्त्व है। निर्जरा २ प्रकार की होती है, एक चेतन निर्जरा, दूसरी जड़ निर्जरा, इसीको शास्त्रीयभाषा में भावनिर्जरा व द्रव्य निर्जरा कहते हैं। निर्जरा संवरपूर्वक ही होती है, अर्थात् जब मिथ्यात्वरुप भाव का अभाव होता है, तबसे ही यथार्थ में निर्जरा शुरु होती है । आत्मा में जितना संवररुप परिणाम होता है उस में क्रमशः आत्म-गुणों की विशुद्धि होना ही चेतन निर्जरा है। यही बात भग-वान कुंदकुंदस्वामीने पंचास्तिकाय ग्रन्थ में गाथा १४५ में कहा है कि

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्टपसाधगो हि अप्पाणं ।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं ॥ १४५ ॥

अर्थ—जो पुरुष संवर भावो कर संयुक्त है, तथा आत्मिक स्वभाव का साधनहारा है, वह पुरुष निश्चय करके, शुद्ध चिन्मात्र आत्मस्वरुप को जान करके, सदैव आत्मा के सर्वस्व को ध्यावे है वही पुरुष कर्मरुपी धूलि को उडा देता है।

जैसे एक आत्मा का छटवी प्रतिमारुप परिणाम है, जब उसमें उसने सप्तम प्रतिमा धारण करने की भावना की वह भाव तो पुण्याश्रव है, परन्तु उसने सप्तम प्रतिमा ग्रहण की

अर्थात् स्वस्त्रीभोगने का जो भाव था उस भाव का उसके अभाव हो गया, उस अभावरूप भाव का नाम चेतन निर्जरा है। और सप्तम प्रतिमापालन करनेरूप जो आत्मा का भाव है वह पुण्याश्रव है।

जड़निर्जरा—जो कार्मणवर्गणा आत्मा के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही थी, उस कार्मणवर्गणा का आत्मा के विशुद्ध परिणामों के द्वारा, काल की मर्यादा के पूर्व अथवा पूर्ण होने पर आत्मप्रदेशो से पृथक् हो जाना उसका नाम जड़ निर्जरा है।

मोक्ष—दो प्रकार का होता है। एक चेतन मोक्ष, दूसरा जड़ मोक्ष। इसे ही शास्त्रीय भाषा में भाव मोक्ष व द्रव्य मोक्ष कहते हैं।

चेतनमोक्ष—आत्मा के सम्पूर्ण गुणो का शुद्ध अर्थात् स्वाभाविक परिणमन होना उसे चेतन मोक्ष कहते हैं।

जड़मोक्ष—आत्मा के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही कार्मण वर्गणा का अत्यंत अभाव हो जाना उसका नाम जड़ मोक्ष हैं।

इस प्रकार स्थूलरुप में सप्त तत्वों का स्वरूप है। उस में जीव अजीव तत्त्व तो जाननेरुप है। आश्रव और बंध तत्त्व हेयरुप हैं। संवर और निर्जरा तथा मोक्ष तत्त्व उपादेय रुप हैं।

प्रथम अवस्था में जिस जीव को सत्यार्थ देव शास्त्र गुरु का ज्ञान नहीं होता वह मोक्षमार्ग में आ नहीं सकता है। इसलिये देवादिक का यथार्थ स्वरूप प्रथम जानना चाहिये। जीव सामान्य से तो हमारी व देव की आत्मा में किञ्चित् भी फर्क नहीं है, परन्तु विशेष में अर्थात् अवस्था में फर्क है। इसलिये अवस्था का भेद ज्ञान होना चाहिये। इस का ज्ञान किये बिना अपनी अवस्था सुधारने के लिये कैसे प्रयत्न करेगा, इसलिये देव का स्वरूप जानने की प्रथम आवश्यकता है। देव का स्वरूप भाव की अपेक्षा से, कर्म की अपेक्षा से, व मार्गणादिक की अपेक्षा से जानना बड़ा जरूरी है। जिससे हमारी श्रद्धा दृढ होती है। जिसकी श्रद्धा यथार्थ नहीं हुई है वह जीव मोक्षमार्ग में आ नहीं सकता। इसलिये सर्वप्रथम अपनी श्रद्धा मजबूत करना चाहिये।

अरहंत देव का स्वरूप—भाव से देव का स्वरुप यह है कि जो आत्मा रागद्वेष से रहित हो अर्थात् वीतराग हो और जो सर्वज्ञ हो अर्थात् अपनी आत्मा के सर्व प्रदेशों से, त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों की अनंतानंत गुणपर्यायों को, प्रत्यक्ष एक ही समय में देखता हो। एवं जिसने अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनंत सुख और वीर्य प्रगट किया हो, एवं पांच प्रकार की क्षायिक लब्धि प्राप्त की हो, ऐसा जो आत्मा है वह आत्मा देव कहा जाता है। वह आत्मा देहधारी है। वह चार घातिया कर्मों को क्षय कर शेष के चार अघातिया कर्मों

को जली हुइ जेवरी (रस्सी) के समान कर देता है। चार अघातिया कर्म होते हुये भी देव में अनंतज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य में बाधा नहीं आती है।

प्रश्न ? जिस आत्माने उक्त अनंतचतुष्टय प्राप्त कर लिया हो वह आत्मा संसार में क्यों रहता है ? मोक्ष में क्यों नहीं जाता है ? क्या उसे अघातिया कर्मोंने रोक रखा है ?

उत्तर—आत्मा में अनंतगुण हैं अर्थात् शक्तियां है और वे सर्व गुण स्वतंत्र है। किसी गुणकी किसी गुण पर सत्ता नहीं है। प्रत्येक गुण अपने २ उपादान से ही परिणमन करता है ऐसा वस्तु का स्वभाव है। इन सब शक्तियों को शास्त्रीय भाषा में दो भेदरुप कहा है। एक भाववती शक्ति और दूसरी क्रियावती शक्ति। जबतक भाववती शक्ति अशुद्ध अर्थात् विकारी परिणमन करती है तबतक आत्मा में अनंत दर्शन ज्ञान सुख वीर्यादि प्रगट नहीं होते हैं। जब भाववती शक्ति का शुद्ध परिणमन होता है तबही अनंतचतुष्टय की प्राप्ति होती है, यद्यपि अरहंत परमात्मा की भाववती शक्ति शुद्ध परिणमन करती है परन्तु क्रियावती शक्ति अशुद्ध परिणमन कर रही है। इसी लिये अरहंत भगवान का मोक्ष नहीं होता है। वह परमात्मा अपने गुण के विकारी परिणाम से ही संसार में रुके रहते हैं। अघातिया कर्मोंने उनको रोक रखा है यह कहना उपचार मात्र है। उनकी क्रियावती शक्ति

में अव्याबाधगुण, अवगाहना, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व और क्रियावान गुण इत्यादि गुणों का अशुद्ध परिणमन होता है इसलिये, अरहंत परमात्मा संसार में रुके रहते हैं। जब इन्हीं गुणों का शुद्ध परिणमन हो जाता है तब अरहंत परमात्मा सिद्धावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं।

मार्गणा से अरहंत देव का स्वरूप—मार्गणा से अरहंत देवका किस प्रकार स्वरुप निर्णय करना चाहिये एवं उनकी श्रद्धा करना चाहिये यह बतलाता हूं। मार्गणा १४ प्रकार की होती हैं–१ गति, २ इंद्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्यत्व, १२ सम्यक्त्व, १३ संज्ञी, १४ आहार।

गतिमार्गणा—गति चार हैं–मनुष्य, देव, तिर्यंच और नारकी। इनमें से मनुष्यगति में जो आत्मा रागद्वेष रहित सर्वज्ञ है वही आत्मा देव है और कोई देव नहीं है।

इंद्रियमार्गणा—इंद्रियां ५ हैं १ स्पर्शन, २ रसना, ३ घ्राण, ४ चक्षु, ५ कर्ण। ये सब पुद्गल की रचनारुप हैं। जिस शरीर में जो आत्मा इन ५ इंद्रियों द्वारा अपना ज्ञानोपयोग अर्थात् देखना जानना नहीं करता है परन्तु किसी की सहायता के बिना ही अपनी आत्मा के सर्व प्रदेशों से तीन लोक की त्रैकालिक वस्तुसमूह को एक ही समय में देखता

जानता है वही आत्मा पंचेन्द्रिय युक्त शरीर में रहते हुये भी देव है।

कायमार्गणा—काय ६ होती हैं १ पृथ्वी, २ अप्, ३ तेज, ४ वायु, ५ वनस्पति और त्रसकाय। इनमें से जो आत्मा पुद्गल की त्रसकाय में होते हुये भी वीतराग सर्वज्ञरुप जिसका परिणमन हो गया है वह आत्मा देव है। और कोई देव नहीं है।

योगमार्गणा—योग १५ हैं–४ मनोयोग, ४ वचनयोग, ७ काययोग इस प्रकार १५ प्रकार का योग पुद्गल की अवस्थायें हैं। जिस आत्मा को दो वचनयोग (एक सत्य दूसरा अनुभय वचनयोग) और एक औदारिक काययोग है ऐसे तीन योग और यदि उसी आत्मा को समुद्घात करने का प्रसंग आवे तो दो काययोग (एक औदारिक मिश्र, दूसरा कार्मण योग) और उपचार से जिसके २ मनोयोग (एक सत्य दूसरा अनुभय मनोयोग) कहे जाते हैं ऐसे पांच योगवाले यदि समुद्घात करे तो सात योगवाली शरीर की अवस्था में जो आत्मा रागद्वेष रहित सर्वज्ञ है वही आत्मा देव है और कोई देव नहीं है।

वेदमार्गणा—वेद तीन हैं १ पुंवेद, २ स्त्रीवेद, ३ नपुंसकवेद। ये तीन प्रकार के वेदरूप भाव जिस आत्मा में नाश को प्राप्त हो चुके हैं और जो वीतराग सर्वज्ञ है ऐसा आत्मा

देव है। वेद शरीर की अवस्था नहीं है परन्तु स्त्री के साथ पुरुष के साथ तथा स्त्री और पुरुष के साथ रमण करने का जो भाव आत्मा में होता है उस भाव का नाम वेद है। अरहंत भगवान के ये तीनों ही वेद नहीं होते।

कषायमार्गणा—कषायें २५ हैं १ अनंतानुबंधी २ अप्रत्याख्यान ३ प्रत्याख्यान ४ संज्वलन। इनमें से प्रत्येक के क्रोध मान माया लोभरुप आत्मा के परिणाम और नोकषाय ९ (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि और तीन वेद) इस प्रकार २५ कषायरुप भाव जिस आत्मा में नहीं होते ऐसी जो सर्वज्ञ वीतराग आत्मा है वही सत्यार्थ देव है।

ज्ञानमार्गणा—ज्ञान ८ प्रकार का होता है। तीन कुज्ञान और पांच सुज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान) ऐसे ८ ज्ञान की अवस्था में जिस आत्मा के मात्र केवलज्ञान पाया जाता है वही आत्मा वीतराग सर्वज्ञ देव है।

संयममार्गणा—संयम ७ हैं १ असंयम २ संयमासंयम ३ सामायिक ४ छेदोपस्थापना ५ परिहारविशुद्धि ६ सूक्ष्मसांपराय और ७ वें यथाख्यात संयम। जिस आत्मा में सात संयमों में से केवल यथाख्यात संयम के साथ सर्वज्ञ दशा प्रगट हुई है ऐसा वीतरागी आत्मा देव है। और कोई देव नहीं है।

दर्शनमार्गणा—दर्शन चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल

दर्शन के भेद से ४ प्रकार का होता है । जिस आत्मा में मात्र केवलदर्शन सहित वीतरागता प्राप्त होती है वही आत्मा सच्चा देव है; अन्य नहीं ।

लेश्यामार्गणा—लेश्या–कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के भेद से ६ प्रकार की होती हैं। ये लेश्यायें एक प्रकार से आत्मा का ही विभावरूप परिणाम है । जिस आत्मा में इन लेश्याओं में से एक भी लेश्यारूप परिणाम नहीं है । केवल उपचार से जिसको परम शुक्ललेश्या कही जाती है ऐसा जो वीतराग सर्वज्ञ आत्मा है वही आत्मा देव है; अन्य नहीं ।

सम्यक्त्वमार्गणा—यह मार्गणा ६ प्रकार की होती है १ मिथ्यात्व २ सासादन ३ मिश्र ४ क्षायोपशमिक ५ औपशमिक ६ क्षायिकसम्यक्त्व । ये सब एक प्रकार से आत्मा के ही परिणाम हैं । जिस आत्मा में क्षायिक सम्यक्त्वरूप भाव के साथ वीतरागता और सर्वज्ञता है वही आत्मा देव है अन्य नहीं है ।

संज्ञीमार्गणा—संज्ञी मार्गणा २ प्रकार की है १ संज्ञी २ असंज्ञी । जिस आत्मा को जानने में मन की सहायता मिलती है वह संज्ञी है अर्थात् जिसके द्रव्यमन हो वह संज्ञी हैं और जो केवल इंद्रियों द्वारा ही जानता है वह असंज्ञी है । ये संज्ञी असंज्ञीरूप भेद क्षायोपशमिक ज्ञान में ही होता है

परन्तु जो आत्मा अपने सर्वात्म प्रदेशों से लोकालोक को स्पष्ट देखता जानता है वही आत्मा देव है।

आहारकमार्गणा—यह मार्गणा २ प्रकार की है १ आहारक, २ अनाहारक, जो आत्मा केवल शरीर से नोकर्म वर्गणा ग्रहण करती है, परन्तु कवलाहार ग्रहण नहीं करती ऐसा आहारक आत्मा, और समुद्‌घात, की अपेक्षा जो अनाहारक है ऐसा वीतरागी सर्वज्ञ आत्मा देव है; अन्य नहीं है।

इस तरह पृथक् पृथक् अपेक्षा से देव का निर्णय जरूर करना चाहिये। जिस को देव का द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूप-ज्ञान नहीं होता, वह आत्मा मोक्षमार्गी नहीं हो सकता। इस-लिये सत्यार्थ देव का स्वरूप द्रव्य, गुण व पर्यायद्वारा जानकर श्रद्धा को दृढ करना चाहिये। यही बात भगवान कुंदकुंद-स्वामीने श्रीप्रवचनसार ग्रंथ के ज्ञानतत्त्व अधिकार में गाथा नं. ८० में कही है।

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्त पज्जयत्तेहि।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

अर्थ—जो अरहंत को द्रव्य, गुण और पर्यायरूप से जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है, और उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त हो जाता है।

यहां प्रसंगवश अभिषेक के संबंध में कुछ लिख रहा हूं। अरहंत वीतरागदेव का यथार्थ में अभिषेक होता ही नहीं है।

समवसरण में जो १२ सभायें हैं उनके मध्यभाग में उनसे बहुत ऊंचे अरहंत भट्टारक कमल पुष्प से अधर विराजमान रहते हैं। वहां अभिषेक होता ही नहीं। अभिषेक तो नियम से सरागी आत्मा के गृहस्थ अवस्था में होता है। जब गृहस्थ मुनि दीक्षा ग्रहण करता है तो स्नानादि से स्वयं विरक्ति हो जाती है। तब वीतराग दशामें अभिषेक मानना यथार्थ नहीं है। गृहस्थकी नीचली कक्षा में जब अवलम्बन की आवश्यकता रहती है तब अवलम्बन के लिये वीतराग सर्वज्ञ की प्रतिमा स्थापित की जाती है। वह वीतराग प्रतिमा मलीन न हो जावे, उसकी सौम्यावस्था बनी रहे, उसके उपर जीवजंतु व रजकण का संचय न होने पावे, इस उद्देश्य से प्रतिमा का प्रक्षाल किया जाता है। यदि प्रतिमा स्वच्छ न होगी तो हमारे परिणामों को अधिकाधिक निर्मल बनाने में बाधा हो सकती है. इस दृष्टि से प्रतिमा को स्वच्छ रखना प्रत्येक पूजक का परम कर्त्तव्य होजाता है। प्रतिमा जितनी अधिक सौम्य व वीतरागतापूर्ण होगी दर्शक व पूजक का मन भी उतना ही अधिक सौम्य व वीतरागता युक्त होसकता है।

गुरु का स्वरूपः—जिस आत्मा में श्रद्धारुप १४ प्रकार का अंतरंग परिग्रह नहीं होता परन्तु आचरणरूप से संज्वलन कषायरुप जिसकी अवस्था है और बाह्य १० प्रकार के परिग्रह में से एक भी जिसके पास नहीं होता, जिस का

शरीर तुरंत के जन्मे हुये बालक की तरह नग्न व निर्विकार होता है, जिस आत्मा में प्रारंभ की ३ कषाय के अभावरूप वीतराग परिणाम हो गया है। जो बाईस परिषह सहन करते हैं ऐसी आत्मा निश्चय से सद्गुरु हैं। बाह्यलिंग नग्न होते हुये भी जिसके ३ कषाय का अभावरूप परिणाम नहीं हुआ है, और जिसके पास किंचित् मात्र परिग्रह भी नहीं है। यथार्थ २८ मूलगुणों का पालन जो आगमानुकूल करते हैं। जिसकी कषायें बहुत ही मंद हो रही हैं, एवं जो मनुष्य देवादिकृत उपसर्ग व परिषह को सहन करते हैं, ऐसी आत्मायें व्यवहार से सद्गुरु हैं।

शास्त्र का स्वरूप—जिस शास्त्र में परस्पर विरोधशाली बातें नहीं होती, जिसमें एकान्त कथन न हो, जो स्याद्वाद चिन्ह से मुद्रित हो, ऐसा शास्त्र सच्चा शास्त्र कहलाता है। उसकी श्रद्धा करना चाहिये।

अनुयोगों का स्वरूप— जिस जीवको व्यवहार से सत्यार्थ देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा नहीं है, वह जीव व्यवहार से भी मोक्षमार्गी नहीं है। इस लिये प्रथम देव शास्त्र गुरु का यथार्थ श्रद्धान कर, व्यवहार से सम्यग्दृष्टि बन कर तत्पश्चात् तत्त्वार्थ का निर्णय बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थद्वारा करना चाहिये। आत्मा में जो श्रद्धा गुण विद्यमान है उसीके शुद्ध परिणमन का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है। और उसी गुणका अशुद्ध परिण-

मन मिथ्यादर्शन कहलाता है। शास्त्र चार विभागों में विभक्त हैं–१ प्रथमानुयोग, २ चरणानुयोग, ३ करणानुयोग, ४ द्रव्यानुयोग। इन चारों अनुयोगों का ठीक २ ज्ञान होना चाहिये। जिसे इस अनुयोगों का ठीक २ ज्ञान नहीं होता वह शास्त्राभ्यास करते हुये भी आत्मकल्याण से वंचित रहता है। सम्पूर्ण आगमों का सार आत्मज्ञान प्राप्तकर वीतरागता प्राप्त करने का है इसलिये चारों अनुयोगों की कथनशैली के अभिप्राय को समझकर उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

प्रथमानुयोग—इस अनुयोग में प्रधानतः पुण्यपाप के फलाफल का वर्णन रहता है। जिसके ज्ञान से आत्मा पापरूप परिणति छोडकर अपनी परिणति पुण्यरूप बनाता है। यही इस अनुयोग का मुख्य कार्य है। इसके अध्ययन से जीवों को कल्याणमार्ग में प्रवृत्त होने के लिये उत्साह प्राप्त होता है।

चरणानुयोग—इस अनुयोग में प्रधानतः बाह्य त्याग का वर्णन रहता है, क्योंकि आत्मा के रागादि परिणाम बाह्य पदार्थों के अवलम्बन से उत्पन्न होते हैं। भगवान कुंदकुंदस्वामीने समयसार के बंधाधिकार में कहा है कि,

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि॥ २६५॥

अर्थ—जीवों के जो अध्यवसाय होता है वह वस्तु को

अवलंबन करके होता है। तथा वस्तुओं से बंध नहीं होता बंध अध्यवसाय से ही होता है।

इसलिये रागादिभावों को छुड़ाने का अभिप्राय रखते हुये यह अनुयोग पर–पदार्थ के त्याग का उपदेश करता है। यथार्थ देखाजाय तो परपदार्थ स्वतः आत्म भिन्न है। केवल कारण का त्याग करनेपर कार्य का त्याग हो जावे इसी लक्ष्य से यह अनुयोग रागादि उत्पत्ति के कारण परपदार्थों को छोडने का व्याख्यान करता हैं। यथार्थ में परपदार्थ का त्याग नहीं होता है, प्रत्युत उसके प्रति जो ममत्व भाव है उसीका त्याग कार्यकारी व कल्याणप्रद होता है। जैसे कोइ जीव रस का त्याग तो करे परंतु उसके प्रति राग का त्याग न करे तो लाभ नहीं होता। रस छोडना धर्म न होकर रस के प्रति रागभाव का त्याग करना ही वास्तव में धर्म समझना चाहिये।

चरणानुयोग बाह्य प्रवृत्तिपर ही विशेषतः उपदेश देता है। एक सूत मात्र परिग्रह रखने से इस अनुयोग की दृष्टि में गृहस्थावस्था कही जाती है। मुनिलिंग सर्वथा निग्रंथ ही होता है। चरणानुयोग की अपेक्षा से ही पात्र का भेद होता है। उत्तम पात्र निग्रंथमुनि मध्यम पात्र अर्जिका एलक क्षुल्लक आदि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक व जघन्यपात्र चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती पाक्षिक श्रावक है।

चरणानुयोग की दृष्टि से जिस जीव को सत्यार्थ देव,

शास्त्र, गुरु का श्रद्धान है वही सम्यग्दृष्टि है। चरणानुयोग में परिणाम न देखकर मुख्यतः बाह्य प्रवृत्ति देखी जाती है। भक्ति आदि चरणानुयोग के अंग हैं। करणानुयोग की अपेक्षा से भक्ति आदि नहीं की जाती क्योंकि जिस आत्मा का ग्यारहवें गुणस्थानरूप परिणाम है वह आत्मा अपने परिणामों से च्युत होने पर समय मात्र में प्रथमादि गुणस्थानवर्ती हो जाता है। जहां परिणामों की ऐसी स्थिति है वहां छद्मस्थ जीव परिणाम देखकर भक्ति कर नहीं सकता क्योंकि छद्मस्थ जीव का ज्ञानोपयोग असंख्यात समय में ही होता है। इसलिये भक्ति में प्राधानपना चरणानुयोग को है। चरणानुयोग की अपेक्षा से मात्र निर्गंथ मुनि को नमोस्तुपूर्वक वंदना चाहिये। भगवान कुंदकुंदस्वामीने सूत्र पाहुड़ के गाथा १२ में लिखा है।

जे बावीस परिसह सहंति, सत्तीसएहिंसंजुत्ता।
ते होंदि वंदणीया कम्मक्खय णिज्जरा साहू ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मुनि अपनी शक्ति के सैकडानिकर युक्त भये संते, क्षुधा तृषादि २२ परीषहनिकूं सहैं हैं ते साधु वंदनयोग्य हैं। कैसे हैं ते कर्मनिका क्षयरुप निर्जराताविषे प्रवीण हैं ॥१२॥

और जो दिगंवर मुद्रा सिवाय कोई वस्त्रधारी सम्यग्दर्शन ज्ञानकर युक्त हो वह इच्छाकार करने योग्य है। सो ही सूत्र पाहुड की गाथा तेरहवे में लिखा है,

अवसेसा जे लिंगी, दंसण णाणेण सम्म संजुत्ता
चेलेणय परिगहिया, ते भणिया इच्छ णिज्जाय ॥१३॥

अर्थ—दिगम्बर मुद्रा सिवाय अवशेष जे लिंगी है भेष-करि संयुक्त और सम्यक्त्व सहित दर्शन ज्ञान करि संयुक्त है अर वस्त्र करि परिग्रहित है वस्त्र धारे है ते इच्छाकार करने योग्य है ॥ १३ ॥

अर्जिका को जो छटवाँ गुणस्थान उपचार से कहा है वह तो परिणाम की अपेक्षा से अर्थात् करणानुयोग की अपेक्षा से कहा है। चरणानुयोग की अपेक्षा से तो उसीका पंचम-गुणस्थान ही मानना चाहिये।

करणानुयोग—प्रधानतया कर्म प्रकृतिद्वारा आत्मपरि-णाम का और तीन लोक की रचना का ज्ञान कराता है। कर्मप्रकृति छोड़ने का यह अनुयोग उपदेश देता है परन्तु यथार्थ में कर्म प्रकृति का त्याग नहीं होता है, क्योंकि वह तो परपदार्थ है। परपदार्थ का त्याग करना यह तो केवल शाब्दिक व्यवहार है। कर्म प्रकृति जिस परिणाम से बंधती है उस परिणाम को न करै उसका नाम ही कर्मप्रकृति का त्याग है। कर्म हम को दुख देता है यह भी कहने मात्र का उपचार है। कर्म तो जड है वह आत्मा को दुख नहीं दे सकता है। आत्मा अपने रागादि परिणामों से दुखी होता है। आत्मा के रागादिक परिणामों का और कर्मप्रकृतियों का

निमित्त नैमित्तिक संबंध है। इसलिये कर्मप्रकृति हमको दुख देती हैं ऐसा जो कहा जाता है वह मात्र उपचार है। यथार्थ में वस्तु स्वभाव ऐसा नहीं है।

संवर निर्जरा का भेद करणानुयोग में ही होता है। क्योंकि जितनी कर्मप्रकृतियों का बंध रुकजाता है उसका नाम संवर है। करणानुयोग बाह्य सामग्री को नहीं बतलाता है। वह तो परिणाम का ही ज्ञान कराता है, परिणाम को और कर्मके उदय को निमित्त नैमित्तिक संबध है। जैसा कर्म का उदय होगा वैसे ही आत्मा के गुण नियम से विकास नही कर सकता है, अर्थात् आत्मा कि इतनी ही पुरुषार्थ की हीनता है।

स्त्रीरूप जिसका शरीर है ऐसा आत्मा करणानुयोग की अपेक्षा से सप्तम गुणस्थानक तक का निर्मल परिणाम कर सकता है। इसी अपेक्षा से धवलग्रंथ में आचार्यप्रवर भूतबली-स्वामीने ९३ वें सूत्र में लिखा है कि

" सम्मामिच्छाइट्ठि–असंजदसम्माइट्ठि सजदा-संजद (संजद) ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

अर्थ—मनुष्य स्त्रियां सम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्-दृष्टि संयतासंयत और संयत गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होती हैं ॥ ९३ ॥

स्त्री को संयत गुणस्थान होता है। यह बात करणानुयोग

की अपेक्षा से कही गइ है परन्तु चरणानुयोग की अपेक्षा से स्त्री के पंचम गुणस्थान से आगे का गुणस्थान नहीं हो सकता है।

तीर्थंकर परमात्मा जब गृहस्थ अवस्था से उदासीन होते हैं तब उनके परिणाम सप्तम गुणस्थानरूप होते हैं। तबही लौकान्तिक देव आते हैं उसके पूर्व नहीं आते। ऐसे सप्तम गुणस्थानरूप परिणाम हुये बाद ही वस्त्रादि का त्याग किया जाता है। वही भगवान कुंदकुंदस्वामीने भावपाहुड की गाथा ७३ में लिखा है।

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोसचइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणि पयडदि लिंग जिणाणाए॥७३॥

अर्थ—पहिले मिथ्यात्वादि दोषों को छोडकर भाव-नग्न हो एकरूप शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ज्ञान व आचरण करे। तत्पश्चात् मुनि द्रव्यरूप बाह्यलिंग जिनाज्ञापूर्वक प्रगट करे ऐसा जैनमुनि का मार्ग है॥ ७३ ॥

इसी तरह गोम्मटसारादि ग्रन्थों में लिखा है कि मिथ्यात्व गुणस्थान से आत्मा सीधा चतुर्थ, पंचम और सप्तम गुणस्थानरूप परिणाम कर सकता है यह कथन करणानुयोग की अपेक्षा से है, परन्तु चरनानुयोग की अपेक्षा से जबतक वस्त्रादि का त्याग नहीं किया जाता है अर्थात द्रव्य से भी निर्ग्रंथरूप अवस्था नहीं होती है तबतक छटवां गुणस्थान हो ही नहीं सकता है।

द्रव्यानुयोग—इस अनुयोग में प्रधानरूप से आत्मा की ओर से ही उपदेश दिया जाता है जो यथार्थ ही उपदेश है। इस उपदेशद्धारा ही आत्मा विशेष कर अपने कल्याण के मार्ग को समझ सकता है। इस अनुयोग में उपचार से कथन नहीं किया जाता है। जिसके कारण आत्मा दुखी है वही यथार्थ कारण कहा जाता है। आत्मा अपने ही कारण से दुखी है और अपने ही कारण से सुखी होता है। आत्मा को सुखी दुखी करनेवाला अन्य कोइ कारण संसार में नहीं है। अरहंतदेव निर्ग्रंथ गुरु आदि कोइ भी आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता, आत्मा का शत्रु-मित्र स्वयं आत्मा ही है। द्रव्यानुयोग में संवर निर्जरा का भेद प्रधानतया नहीं पडता है। कारण कि सब गुणों की दो ही अवस्थायें होती हैं। एक शुद्ध दुसरी अशुद्ध। चाहे वह गुण शुद्ध परिणमन करे या अशुद्ध परन्तु एक समय में एक ही अवस्था होगी। जिस समय ज्ञान गुण अशुद्ध परिणमन करता है उस काल में अज्ञान भाव ही है और जिस समय में शुद्ध परिणमन करता है उस समय में शुद्ध भाव है। जिस समय में चारित्रगुण विकारी परिणमन करता है उस समय में आत्मा रागी ही है, और जिस समय में शुद्ध परिणमन करता है उस समय में आत्मा वीतरागी है। भगवान कुंदकुंदस्वामीने यही बात प्रवचनसार ग्रंथ के ज्ञानाधिकार में गाथा ४२-४३ में कही है।

परणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।
णाणं त्ति तं जिणिंदा, खवयंतं कम्म मे वुत्ता ॥ ४२॥
उदयगदाकम्मं सा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो जाननेवाला आत्मा ज्ञेय पदार्थ को संकल्प विकल्प रुप होकर परिणमन करता है तो उस आत्मा के अतींन्द्रिय क्षायिक ज्ञान नहीं है। इसलिये जिनेन्द्रदेवने उस विकल्पी जीव को कर्म का अनुभव करनेवाला कहा है ॥ ४२ ॥

नियम से श्रीजिनेन्द्रदेवने संसारी जीवने ज्ञानावरणादिक उदय प्राप्त कर्मांशों कहा है जीव वह कर्मांशो होवे मोही रागी अथवा द्वेषी थयो थको बंधनको अनुभव करता है ॥ ४३ ॥ उसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने कहा है कि—

टीका— परिच्छेत्ता हि यत्परिच्छेद्यमर्थं परिणमति तन्न तस्य सकलकर्मकक्षक्षयप्रवृत्तस्वाभाविकपरिच्छेदनिदानमथवा ज्ञानमेव नास्ति तस्य। यतः—प्रत्यर्थपरिणतिद्वारेण मृगतृष्णाम्भोभारसंभावनाकरणमानसः सुदुःसहं कर्मभारमेवोपभुञ्जानः स जिनेन्द्रैरुद्गीताः ॥ ४२ ॥

अर्थ—ज्ञाता यदि ज्ञेय पदार्थ के अनुकुल परिणमन करता है तो, वह ज्ञाता सकल कर्म वन के क्षयसे प्रवर्तता स्वाभाविक जाननपन के कारन (क्षायकज्ञान) नही है अर्थात् उसीको ज्ञानज नहि है, कारणकि सब पदार्थरुप परिणतिद्वारा

मृगतृष्णा में जल समुह कि कल्पना करनेवाला मानसवालो वह आत्मा, दुःसह कर्मभारको हीं भोगता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ४२ ॥

टीका—संसारिणो हि नियमेन तावदुदयगताः पुद्गल-कर्मांशाः सन्त्येव। अथ स सत्सु तेषु संचेतयमानो मोहराग-द्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यते। तत एव च क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति। अतो मोहोदयात् क्रिया-क्रियाफले न तु ज्ञानात् ॥ ४३ ॥

अर्थ—प्रथम तो संसारी जीव को नियमसे उदयगत पुद्गल कर्मांशो होता ही है, इसलिये वह संसारी आत्मा वह उदयगत कर्मांशो की हयातिमें चेतता, जानता, अनुभवतां मोह राग द्वेष में परिणत होने से ज्ञेय पदार्थ में परिणमन जीसका लक्षण है, ऐसो (ज्ञेयार्थ परिणमनस्वरुप) क्रियाको साथ जोडाता है इसलिये उसीको क्रियाफल भूतबंधका ही अनुभव होता है, इससे साबित होता है कि मोहके उदयमें ही क्रिया और क्रियाफल ही होता है परन्तु ज्ञानसे नहि अर्थात् ज्ञान चेतना का अनुभव नहि करता है ॥ ४३ ॥

द्रव्यानुयोग में गुणस्थान नहीं होता हैं गुणस्थानरूप भेद तो करणानुयोग में ही होता है। जिस समय में आत्मा अशुद्ध परिणमन करता है उसकाल में संसारी ही है। और जिस समय आत्मा शुद्ध परिणमन करता है उस समय में

आत्मा की मोक्ष दशा होती है। द्रव्यानुयोग पर पदार्थ को छोड़ने का उपदेश नहीं देता है वह तो दुख का कारण जो मिथ्यात्व रागादि आत्मा का परिणाम है उसे ही छोड़ने का उपदेश देता है। द्रव्यानुयोग में परपदार्थ साधक बाधक भी नहीं होता उसको साधक बाधक समझना ही मिथ्यात्व है। परपदार्थ को साधकबाधक दूसरा अनुयोग कहता है और उसका नाम ही उपचार है। इसलिये शास्त्र की पद्धति व वर्णन व्यवस्था का ज्ञान करना बहुत जरुरी है. इसलिये. जिन जीवों को अपना कल्याण करने का भाव है उनको चारों अनुयोगों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। आगमज्ञान बिना मात्र द्रव्य से मुनिलिंग भी धारण करना कार्यसाधक नहीं हो सकता। भगवान कुंदकुंदस्वामीने प्रवचनसार के चारित्र अधिकार में यही भाव गाथा ३३ में कही है।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥३३

अर्थ—आगमहीन साधु आत्मा और परको नहीं जानता है। पदार्थज्ञान बिना भिक्षु किस प्रकार कर्मों का नाश करेगा?

आगम का भाव किस प्रकार जानना चाहिये—जैसे तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है कि आत्मा का लक्षण उपयोग है, और उपयोग लब्धिरुप और उपयोगरुप रहता है, उसका

ठीक २ अर्थ समझना चाहिये। उपयोग २ प्रकार का है १ ज्ञानोपयोग, २ दर्शनोपयोग अथवा उपयोग ३ प्रकार का है १ अशुभोपयोग २ शुभोपयोग और ३ शुद्धोपयोग। यही बात भगवान कुंदकुंदस्वामीने प्रवचनसार ग्रंथ के ज्ञेय तत्त्वाधिकार में गाथा ६३-६४ में कही है।

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाण दंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि॥
उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि॥६४-१५६

अर्थ—आत्मा उपयोगात्मक है। और उपयोग ज्ञान दर्शन को कहते है और आत्मा का वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ होता है॥ ६३॥

उपयोग यदि शुभ हो तो पुण्य संचय होता है और जो अशुभ हो तो पाप संचय होता है। उन दोनों के अभाव में संचय होता ही नहीं॥ ६४॥

लब्धि किसे कहते हैं और उपयोग किसे कहते है इसका ठीक २ ज्ञान करना चाहिये। छद्मस्थ जीवों का उपयोग पराधीन है उसके जानने के लिये ५ इंद्रियें हैं। जिस समय आत्मा जिस इंद्रियद्वारा ज्ञान प्राप्त करता है उसी समय वह इंद्रिय ज्ञानोपयोग रुप है और उस समय में शेष सब इंद्रियों का ज्ञान लब्धिरुप में है। अर्थात् जिस समय हमारा आत्मा

चक्षु इंद्रियद्वारा भगवान की प्रतिमा देखता है उस समय हमारा ज्ञानोपयोग चक्षु इंद्रिय में उपयोगरुप है और शेष चार इंद्रियों में वह लब्धिरुप है। दूसरा दृष्टांत जिस समय में डाक्टर एक मनुष्य का ऑपरेशन करते समय क्लोरोफार्म सुंघाता है उसके बाद उस मनुष्य को किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसकाल में उस मनुष्य का आत्मा ज्ञान रहित हो गया है। परन्तु उस काल में क्लोरोफोर्मद्वारा जड इंद्रियां खराब हो जाने से आत्मा का ज्ञान उपयोगरुप कार्य नहीं करता है। परंतु उस काल में पराधीन ज्ञान होने से लब्धिरुप ज्ञान है। भगवान कुंदकुंदस्वामीने ज्ञान की पराधीनता की बात श्रीप्रवचनसार ग्रंथ के गाथा नं. ५५ आदि में कही है।

जीवो सयं अमुत्तो, मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदिवा तण्ण जाणादि ॥५५॥

अर्थ—स्वयं अमूर्त आत्मा मूर्त शरीर के प्राप्त होने से मूर्त्त शरीरद्वारा योग्य मूर्त्त पदार्थ को अवगृहीत कर उसको जानता है अथवा नहीं जानता है अर्थात् कभी जानता है कभी नहीं जानता है। यही बात भी पंचाध्यायी में गाथा २००, २०१ में कही है कि,

एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्धानसंभवात्।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥ २०० ॥

अस्ति तत्र विशेषोऽयं विना बाह्यं न हेतुना ।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात्॥२०१॥

अर्थ—पंचेंद्रियकर्म, मानसकर्म, पर्याप्तकर्म, इन्द्रियादिक की रचना, सूर्यादिकका प्रकाश, अन्य देशस्थ संस्कार आदि समग्र निमित्तो के सद्भावमें ही, वस्तु का ठीक २ ज्ञान होना संभव है, यदि इन कारणो से कोई भी कम हो तो पदार्थ का ज्ञान नही होसकता । यहां पर इतना विशेष समझना चाहिये कि, क्षयोपशम (लब्धि) ज्ञानके होने पर भी, बिना बाह्य कारणो के, निमित्तो के मिले, पदार्थ का ज्ञान (उपयोगरुप) नही हो सकता है ।

समयसार ग्रंथ में लिखा है कि बंध का कारण मिथ्यात्व, असंयमभाव, कषाय और योग है गाथा नं. १०९ ॥ इसप्रकार से भी लिखा है कि मिथ्यात्व अज्ञान असंयमभाव और योग बंध का कारण है गाथा १९० ॥ इधर अज्ञान का अर्थ ज्ञान का न होना नहीं समझना चाहिये, क्योंकि ज्ञान का होना अथवा नहीं होना बंध का कारण नहीं है । यदि ऐसा माना जायगा तो आत्मा कभी भी बंधन से मुक्त नहीं हो सकता है इसलिये अज्ञान का अर्थ कषाय सहित ज्ञानोपयोग अर्थात जिस ज्ञानोपयोग के पीछे मोह की पुट है उस ज्ञानोपयोग को अज्ञान कहा है क्योंकि बंध का कारण कषाय है न कि ज्ञान ।

नियमसार ग्रंथ में शुद्धोपयोगाधिकार में प्रश्न उठाया गया है (गाथा नं. १६१) कि दर्शन आत्मा को जानता है और ज्ञान परपदार्थ को जानता है इसका यह अर्थ नहीं की ज्ञान आत्मा को जानता नहीं है। इसका ठीक २ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यथार्थ में तो आत्मा का दर्शन गुण सामान्य अवलोकन करता है और ज्ञान गुण विशेष अवलोकन करता है। स्व आत्मा की अपेक्षा से तो दर्शन गुण आत्मा को अखंड ही देखता है। इस देखने में गुणगुणी भेद नहीं एवं गुणपर्याय भेद नहीं मात्र आत्मा को ही अखंडरुप से देखता है अर्थात् ज्ञान घररुप चैतन्य पिंड देखता है यही देखना सम्यग्दर्शन का विषय है अर्थात् लक्ष हैं। इस देखने का नाम सामान्य अवलोकन है और ज्ञानगुण आत्मा के अनंतगुण और उसकी पर्यायों को जानता है अर्थात् दर्शनने भी अखंड आत्मा को ही देखा और ज्ञानने भी गुणपर्याय का विशेष समूहरुप जो आतम द्रव्य है उसको देखा अर्थात् दोनोंने आत्मा को ही देखा। और परद्रव्य की अपेक्षा से एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय को देखने के लिये उपयोग घूमता है तब एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय के बीच में जो काल का अंतर पड़ता है उसका नाम सामान्य अवलोकन है अर्थात् दर्शन देखता है और ज्ञेयको ज्ञान देखता है उसका नाम विशेष अवलोकन है दर्शनने जो सामान्य अवलोकन किया वह

यथार्थ में वचन से अगोचर है और जो २ ज्ञेय को दिखता है वह ज्ञान का ही कार्य है।

नियमसार ग्रंथ के जीवाधिकार की गाथा १५ की टीका में अखंड त्रिकाली कारण शुद्ध पर्याय आत्मा में है ऐसा लिखा है। इसके विषय में किसी २ की ऐसी धारणा है कि त्रिकालिक शुद्ध कारणपर्याय कूटस्थ है परन्तु सोचिये तो सही कि कोइ वस्तु कूटस्थ है ही नहीं क्योंकि सत् का लक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है सो कूटस्थ मानना न्याययुक्त नहीं है। ऐसी मान्यतावाले जीवने सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं ऐसा माना नहीं। उत्पाद व्यय ध्रुव एक समय की अवस्था है। एक समय की अवस्था होते हुये भी तीनो ही स्वतंत्र हैं। उत्पाद है वह व्यय और ध्रौव्य नहीं है। व्यय है वह उत्पाद और ध्रुव नहीं और जो ध्रुव है वह उत्पाद और व्यय नहीं। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है तब सोचिये कि आपको तो एक समय में एक ही ज्ञान होना चाहिये। अर्थात् जब उत्पाद का ज्ञान करोगे तब व्यय का ज्ञान नहीं होगा और ध्रुव का ज्ञान करोगे तब उत्पाद और व्यय का ज्ञान नहीं होगा। वस्तु का स्वरुप ऐसा होते हुवे भी छद्मस्थ जीवों को भूत और भविष्य का ज्ञान होता है उसका क्या कारण है? इस-पर विचार करने से प्रतीत होता है कि जो हमको भूत, भविष्य का ज्ञान करता है वही अखंड त्रिकालिक कारण शुद्ध

पर्याय है। वह कारण शुद्ध पर्याय न हो तो एक समय के पहिले की अवस्था का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये अखंड त्रिकालिक अनादि अनंत कारण शुद्ध पर्याय सब जीवात्मा में है और वही परिणमनशील है। कूटस्थ नित्य नहीं है।

आत्मा में अनंत गुण हैं इस में जैसे ज्ञान और दर्शन देखने का गुण है वही लब्धि और उपयोग रुप रहते हैं ऐसा आगम में लिखा है। यह सोचकर बहुत से जीव श्रद्धा आदि गुणों को भी लब्धि और उपयोगरुप मानते हैं एवं अपने बनाये हुये शास्त्रों में भी लिख देते हैं परन्तु वह विचार नहीं करते हैं कि ज्ञान दर्शन को लब्धि और उपयोगरुप किस अपेक्षा से कहा है और इसका क्या कारण है? इस विषय का ज्ञान न होने से श्रद्धा गुण को भी लब्धि और उपयोगरुप मान लिया करते हैं। छद्मस्थ अवस्था में आत्मा का ज्ञान पराधीन है इसलिये उसको ५ इंद्रिय और मन की सहायता लेना पड़ती हैं इस अपेक्षा से ज्ञान दर्शन में लब्धि और उपयोग का भेद पड़ता है परन्तु बाकी के अनंत गुणों में ऐसी बात नहीं है। अर्थात् उनकी इन्द्रिय और मन की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती इसलिये वे सब गुणों के लब्धि उपयोग भेद नहीं होते है। प्रत्येक गुण परिणमन शील है, ज्ञान उपयोगरुप हो या न हो परन्तु श्रद्धा गुण समय २ में परिणमन कर रहा है।

आगम में अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान को एक देश प्रत्यक्ष कहा है इसका अर्थ बहुत से लोग उल्टा मानते हैं। ऐसी ही अपनी मान्यता के अनुकूल अपने बनाये हुये शास्त्रों में भी लिख देते हैं कि अवधिज्ञान मनःपर्याय ज्ञान इंद्रिय और मनकी सहायता के विना ही देखते जानते हैं। यह धारणा ठीक नहीं हैं। केवलज्ञान को छोड़कर सब ज्ञान पराधीन हैं अर्थात् सापेक्ष हैं। उनमें मन व इंद्रियों की सहायता जरूर लेना पड़ती है। मतिश्रुतज्ञान में तो इंद्रिय व मन की सहायता लेना ही पड़ती है परन्तु अवधिज्ञान व मनःपर्यय ज्ञान में इंद्रियों को छोडकर मन की सहायता अवश्य ली जाती है। यही बात पंचाध्यायी के पूर्वार्धखंड में गाथा नं. ६९९–७०१–७०५ में लिखी है।

देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमनःपर्ययं च यज्ज्ञानम्।
देशं नोइन्द्रियमनउत्थात् प्रत्यक्षमितर निरपेक्षात्॥

अर्थ—देश प्रत्यक्षरुप जो अवधि मनःपर्ययज्ञान हैं वे केवल मन (अतीन्द्रिय) सापेक्ष होने से देश प्रत्यक्ष कहलाते हैं उन्हें मन के सिवाय अन्य अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती इसलिये उन्हें प्रत्यक्ष कहा है।

छद्मस्थावस्थायामावर्णेन्द्रियसहायसापेक्षम्।
यावज्ज्ञानचतुष्टयमर्थात सर्वपरोक्षमिववाच्यम्॥७०१

अर्थ—छद्मस्थ अवस्था में आवरण और इंद्रियों की

सहायता की अपेक्षा रखनेवाले प्रारंभ के ४ ज्ञान परमार्थ से परोक्ष कहना चाहिये।

दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात्।
केवलमेव मनः सादवधिमनःपर्ययद्वयं ज्ञानम् ॥७०५॥

अर्थ—अवधि और मनःपर्यय ज्ञान दूरस्थित पदार्थों को केवल मन की सहायता से अपने सन्मुख प्राप्त हुये पदार्थों की तरह शीघ्र जान लेते हैं। ये दोनों ज्ञान केवल मनसापेक्ष ही हैं; अन्य सापेक्ष नहीं हैं। इसी तरह भगवान कुंदकुंदस्वामी ने प्रवचनसार ग्रंथ में ज्ञानाधिकार की गाथा ५८ में लिखा है।

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमट्ठेसु।
जादि केवलेण णादं, हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥

अर्थ—जो ज्ञान पर पदार्थों के अवलम्बन से उत्पन्न होते हैं वे परोक्ष हैं और जो केवल आत्मा से होते हैं वे प्रत्यक्ष हैं।

उसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने लिखा है कि, निमित्त होते है ऐसा जो परद्रव्यभूत अंतःकरण (द्रव्यमन), इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि, संस्कार और प्रकाशादि के द्वारा जो विषयभूत पदार्थ का ज्ञान होता है वही ज्ञान प्रादुर्भाव होता है, वही ज्ञान परोक्ष कहलाता है। और अंतःकरण, इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि, संस्कार, प्रकाशादि की अपेक्षा

रखेबीना ही मात्र एक आत्म स्वभावको ही ग्रहण कर सर्व द्रव्य-पर्याय को एक ही समय में व्याप्य कर प्रवर्तता है, वही ज्ञान जो केवल आत्मद्वारा ज उत्पन्न होता हैं, वही ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है ॥ ५८ ॥

इससे फलित होता है कि, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान में भी द्रव्यमन की सहायता ली जाती है। मनकी सहायता बारहवा गुणस्थान तक अर्थात् क्षयोपशम ज्ञान में नियम से ही ली जाती है। इसलिये बारहवा गुणस्थान तक अज्ञान भाव कहा है।

आजके बने हुए शास्त्रों में ऐसा भी लिख देते हैं कि, सम्यग्दृष्टि के मुख से जो वाणी सुनी होगी वही वाणी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में कारण हो सकती है। मिथ्यादृष्टि की वाणी सम्यगदर्शन की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकती। यह कहना एवं शास्त्र आदि में लिख देना गंभीर भूल है। वह जीवों को यथार्थ ज्ञान नहीं है ऐसा यदि कहा जावे तो भी अयोग्य नहीं है। वाणी यथार्थ होनी चाहिये, पिछे वह वाणी सम्यक्दृष्टी के मुख से सुनी हो, या मिथ्यादृष्टि के मुखसे सुनी हो, या शास्त्रमें से वाची हो, सब वाणी सम्यग्-दर्शन प्राप्त करने में कारण पड शकती है। यह कहना भी मात्र व्यवहार है अर्थात् उपचार हैं। मेरी आत्मा स्वयं उस वाणीपर विचार न करे, तो तीर्थंकर की वाणी में भी यह

शक्ति नही है कि पर आत्माओ को सम्यग्‌दर्शन करादेवे । प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, अपनी परणति अपने ही आधारपर है, परकी अपेक्षा का ही भाव रखना वह भाव मिथ्यात्व भाव है । सम्यग्‌दर्शन का स्वरुप वाणी के द्वारा यथार्थ निरुपण करदेना और बात है, और सम्यग्‌दर्शन रुप आत्मा की परणति होजाना और बात है । सम्यक्‌–ज्ञानका स्वरुप वाणी के द्वारा यथार्थ प्रतिपादन करदेना और बात है, और सम्यक्‌ज्ञान रुप आत्मा की परणति होजाना और बात है । सम्यक्‌चारित्र का स्वरुप वाणीके द्वारा यथार्थ प्रतिपादन करदेना और बात है, और सम्यक्‌ चारित्ररुप आत्मा की परणति होजाना और बात है । वस्तु का स्वरुप ही ऐसा है उसमें तर्क का समावेश नहीं है। अभव्यद्वारा वस्तुका यथार्थ प्रतिपादन करनेवाली वाणी भी, सम्यक्‌दर्शन प्राप्त करने में कारण पड सकती है । आत्मा ऐसा पराधीन नही है कि दुसरे सम्यग्‌दृष्टि आत्मा की सहायता बिना अपना कल्याण न कर शके । संसार के तीर्थंकरादि सब जीव नोकर्म है, ऐसे नोकर्म को अच्छा–बुरा मानना ही तो मिथ्यात्व भाव है क्योंकि कोई भी नोकर्म अच्छे बुरे है ही नही । एक सम्यग्‌दृष्टि आत्मा समवसरणमें भगवंत अरहंत की दिव्य ध्वनी सुन रहा है, उसी समय में यदि उसीका मिथ्यात्व कर्म का उदय हो आवे तो, नियम से वही आत्मा अपने उपादान से ही मिथ्यात्व रुप परिणमन कर

जाता है, यही बात भगवंत कुंदकुंदस्वामीने समयसार ग्रंथ के पून्य-पापाधिकार में गाथा १६१ में कहा है कि,

सम्मत्त पडिणिबद्धमिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णादव्वो ॥१६१॥

अर्थ—सम्यक्त्व को रोकनेवाला मिथ्यात्व कर्म है ऐसा जिनवर देवने कहा है, उस मिथ्यात्व के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता हैं ऐसा जानना चाहिये।

इसीमें अरहंत भगवंत एवं समवसरण तथा दिव्यध्वनि क्या करे, क्योंकि वह सब नोकर्म है, नोकर्म में अच्छे बुरे की धारणा रखना ही मिथ्यात्व है।

आत्मा तीन काल में उपयोग छोडकर कुछ करता ही नही है ऐसी अमुक महाशयों की धारणा है इतना ही नही परन्तु अपने बनाये हुये शास्त्रो में भी ऐसा लिख दिया है, यह उनका कहना एवं लिखना आगम विरुद्ध है, क्यों कि आत्मा संसार अवस्था में योग और उपयोग का कर्ता है, और मोक्ष अवस्था में मात्र उपयोग का ही कर्ता है, यदि योगको संसार अवस्था में कर्ता नही माना जायगा तब, सब क्रिया जडकी होती है ऐसा मानने का प्रसंग आता है। आत्मा की क्रिया को परद्रव्य की क्रिया मानना मिथ्यात्व भाव है। केवली परमात्मा का उपयोग शुद्ध होते हुये भी उनके योग है। भगवंत कुंदकुंदस्वामीने समयसार ग्रंथ के

कर्तुकर्माधिकार में गाथा १०० में लिखा है कि,

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगो उप्पादगा यसोते सिंहवादिकत्ता ॥१००॥

अर्थ—जीव घडे को नही कहता, और पटको भी नही कहता, शेप द्रव्यो को भी नही करता, जीवके योग और उपयोग ये दोनो घटादिक के उत्पन्न करने के निमित्त है, उन दोनो योग उपयोग का यह जीव कर्त्ता है ।

इसलिये ऐसी श्रद्धा करना कि आत्मा संसार अवस्थामें मात्र योग और उपयोग छोड कुच्छ कर ही नहीं सकता है, एवं मोक्ष अवस्था में मात्र उपयोग का ही कर्ता हैं ।

चतुर्थ गुणस्थान में क्षायक सम्यग्दर्शन प्राप्त हुये बाद सम्यग्दर्शन में भी आगे आगे के गुणस्थानोमें स्वच्छता की वृद्धि होती है, ऐसी अमुक जीवों की धारणा है । एवं आज-कलके आचार्य भी अपने बनाये हुए शास्त्र में लिखते है कि, चतुर्थगुणस्थान आदि में जो क्षायक सम्यग्दर्शन है, वह क्षायक सम्यग्दर्शन तेरहवे गुणस्थान में बहुत वृद्धि को प्राप्त होते है । अर्थात् जाज्वल्यमान ज्योतिरूप होता है । यह सब मिथ्या भ्रमणा है । किस कर्मने सम्यक्दर्शन की वृद्धि को रोक रखी थी कि, पीछे से सम्यग्दर्शन में जाज्वल्यमान ज्योतिरुप वृद्धि हो गई । विचार तो करो कि जहां प्रति-पक्षी कर्म ही नही है तो गुण में वृद्धि किस प्रकारसे हो

सकती है। गुणो में षट्गुणहानि वृद्धि होना और बात है, क्योंकि उस में तो हानि और वृद्धि दोनो होवे है। ऐसी दशा सिद्ध परमात्मा में भी होती रहती है। चतुर्थ गुणस्थान में जो क्षायक सम्यक्दर्शन है, वैसा ही क्षायक सम्यग्दर्शन केवली परमात्मा एवं सिद्धपरमात्मा में भी है। क्षायक सम्यग् दर्शन में किञ्चित् मात्र फर्क नही है, फर्क तो तभी होसकता है, जब सामने रोकनेवाला प्रतिपक्षी कर्मका सद्भाव हो, परन्तु क्षायक सम्यग्दर्शन में तो प्रतिपक्षी कर्म का सद्भाव तो है ही नही, परन्तु अभाव है, इस में कुछ भी वृद्धि होती नहीं है। परमात्मप्रकाश ग्रन्थ में सराग सम्यक्त्व, एवं वीतराग सम्यक्त्व कहा है वह तो चारित्रगुण की अपेक्षा से कहा है। जबतक बुद्धिपूर्वक रागदोषादि है तबतक वही राग का सम्यग्-दर्शन में आरोप कर सराग सम्यग्दर्शन कहदिया है। एवं अबुद्धिपूर्वक राग में वही रागका सम्यग्दर्शन में आरोप कर वीतराग सम्यक्दर्शन कहा है। यथार्थ में सम्यक्दर्शन न सराग है न वीतराग है वह तो आत्मा के श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय है, सराग व वीतराग का भेद चारित्र में ही पडता है। सम्यक्दर्शन को अवगाढ एवं परमावगाढ जो कहा है वह तो चारित्रगुण एवं ज्ञानगुण की शुद्धता होने से सम्यक्दर्शन में मात्र उपचार किया है, इसका यह अर्थ नहीं है कि, सम्यक्-दर्शन में शुद्धता विशेष बढ़ती है। सम्यक्दर्शन तो जैसा है

वैसा ही है। ऐसे ही यथाख्यात चारित्र की पूर्णता ग्यारहवे बारहवे गुणस्थान के पहले समय में होजाती है । परन्तु चौदहवे गुणस्थान में परम यथाख्यात चारित्र कहाजता है, वह भी योग गुण की शुद्ध परिणमन होने की अपेक्षा से ही कहा जाता है। यथाख्यात चारित्र तो बारहवे गुणस्थान में जैसा था वैसा ही है, परन्तु परम यथाख्यात चारित्रयोगगुण की अपेक्षा से कहा जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः लिखा है उसका भी अर्थ करने में भी बहुत जीवों की गलतीयां होती है। जैसे—

प्रश्न—सम्यक्दर्शन की प्राप्ति चतुर्थ गुणस्थान में हो गई, चारित्र की प्राप्ति बारहवे गुणस्थान के पहले समय में हो गई, और केवलज्ञान की प्राप्ति तेरहवे गुणस्थान के आदि में हो जाती है, तो भी आत्मा का मोक्ष क्यों नही हुआ? क्योकी सूत्रजी में लिखा है कि तीनोकी एकता होने से ही मोक्ष होता है।

उत्तर—चारित्र का अर्थ चारित्र नाम के गुणकी शुद्धता होजाना इतना ही नही लेना चाहिये, परन्तु आत्मा के चारित्र शुद्ध होने से ही अर्थात् आत्मा के संपूर्ण गुणो का शुद्ध परिणमन होजाने से ही तीनोकी एकता होती है । और ऐसी एकता होने से ही मोक्ष होता है। आत्मा में अनंता

गुण है, उसमें से चारित्र गुण की शुद्धता बारहवे गुणस्थान में हो जाती है, तो भी आत्माके बहुत से गुणोका विकारी परिणमन होने से आत्मा की मोक्ष दशा नई हुई है। बहुत गुणो में से अव्याबाध अवगाहना, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व, योग, आदि गुणो का शुद्ध परिणमन होते ही उसी समय में आत्मा का चारित्र शुद्ध होता है, और मोक्ष चलाजाता है।

शास्त्र में कुमति, कुश्रुत, कुअवधिज्ञान, कहा है वह भी पर की अपेक्षा से ही कहा है। यथार्थ में विचाराजाय तो ज्ञानकभी भी मिथ्यात्वरुप नही होता है, क्योंकि ज्ञान गुण की पांचही अवस्था होती हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान एवं इन पांच अवस्थाओं को घात करनेवाले भी कर्म की पांच ही प्रकृति हैं। परन्तु कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, नाम की कर्म की प्रकृति नही है। ज्ञानको जो मिथ्या कहा जाता है वह श्रद्धागुण अपेक्षा से कहा जाता है। सम्यक्-दर्शन होने से वही ज्ञान सम्यक्ज्ञान कहलाया जायगा। और मिथ्यादर्शन होने से वही ज्ञान मिथ्याज्ञान कहा जावेगा। ज्ञान तो वहो का वही है, वह कभी मिथ्या और सम्यग्रुप होता ही नही है। जैसे एक मनुष्य के पास बहुत लक्ष्मी होने से उसे धनी कहा जाता है, वही लक्ष्मी के अभाव में निर्धन कहलाता है, मनुष्य वही का वही है, परन्तु धनी और निर्धन लक्ष्मी की अपेक्षा से कहा गया है।

ज्ञान का कार्य मात्र जानना ही है। ज्ञानको जो संशय आदि दोष दिया जाता है वह यथार्थ में परद्रव्य की अपेक्षा से ही दियाजाता है। ज्ञान में कभी दोष होता ही नही है जैसे जेवड़ी में सर्प की कल्पना करना ज्ञानका दोष कहाजाता है, परन्तु यथार्थ में विचारा जाय तो ज्ञान के परिणमन में ज्ञानने सर्परुप ही परिणमन किया है। यदि ज्ञान में सर्परुप परिणमन नही होता तो, सर्पको मानकर भय क्यों उत्पन्न होता परन्तु भय से अपने बचाव के लिये कोशिश करता है, इस से सिद्ध होता है कि ज्ञानने सर्परुप ही परिणमन किया है। परन्तु जेवडी की अपेक्षा से वह ज्ञानको विपरीत ज्ञान कहा जाता है। ज्ञानका कार्य मात्र जानना देखना ही है। उसमे जीतना कम जानता है, वही मात्र ज्ञान का दोष है। और ऐसा कम जानने में प्रतिपक्षी ज्ञानावरणीय कर्म का उदय निमित्त कारण है। जबतक ज्ञान की हीन अवस्था है इतनी डीग्री में सामने कर्मका उदय नियम से कारण है।

मिथ्यात्वरुप आत्मा के अनेक प्रकारका परिणमन होता है, इसलिये परिणामों को पहचानने की शक्ति प्राप्त करना चाहिये। ऐसे ज्ञान न होने के कारण मिथ्यात्व का मिथ्यात्व रहजाता है। जैसे एक गाव में दो ब्रह्मचारीजी रहते है। जिनको उस गांवके मनुष्य सम्यग्दृष्टि मानते हैं। एवं उनकी बहुत भक्ति भी करते है। एक दिन उस गांव में एक मुनि-

महाराज पधारे वह बहुत ज्ञानी थे। इस अवसरपर एक मुमुक्षु बाइ रजस्वला हो गई दूसरे ही दिन वह ब्रह्मचारीजी महाराज के पास गइ, और प्रार्थना की कि महाराज कल में रजस्वला हुइ हूं. मुनिमहाराज दो दिन में विहार कर जावेंगे, मुनिमहाराज के उपदेश से वंचित रहती हूं, सम्यक्दर्शन प्राप्त करनेके काल में ही रजस्वला हो गई। एवं कल रथयात्रा का भी दिन है, अब मुझे रक्तस्राव मालुम नहीं होता है। घरपर रहने से सारा दिन प्रमाद में ही जाता है। यदि आप आज्ञा दो तो कल मैं स्नान कर रथयात्रा में संमिलित होउं, और मुनिमहाराज का उपदेशामृत का पान कर सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के साथ आत्मा का कल्याण करुं। ऐसा अवसर बार २ मिलता नहीं। इस प्रार्थना को सुनकर ब्रह्मचारीजी महाराजने कहा कि—बाइजी आपका कहना बिलकुल ठीक है, घरपर रहने से दिन प्रमाद में ही जाता है, आप आनंद से स्नानकर रथयात्रा में एवं मुनिमहाज के सदुपदेश में जाकर अपना कल्याण करना। ऐसा सुअवसर हर समय मिलता नहीं। आपको कोई पूछे तो हमारा नाम ले देना कि, ब्रह्मचारीजीने आज्ञा दी है। इस आज्ञा के मिलने के बाद बाइजी बहोत प्रसन्न हुई, और ब्रह्मचारीजी को कोटिशः धन्यवाद दे अपने घर गइ। फिर क्याथा, दूसरे दिन स्नानकर उसने रथयात्रा में भाग लिया और पुण्योपार्जन किया, और मुनिमहाराज का सदुपदेश सुनकर बहुत ही आनन्द माना।

अब सोचिये कि ऐसा आदेश देनेवाले ब्रह्मचारी महाराज सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि ? पहले तो उन्होने आगम से विरुद्ध आदेश दिया, इसलिये आगम को माना नही । दूसरे मुनिमहाराज का उपदेश सुनने से ही मेरा कल्याण होगा, ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है, अर्थात् पर से मेरा कल्याण होगा ऐसा मानना मिथ्यात्व है। मेरा कल्याण मुझसे ही होगा, पर मेरा कल्याण कर नही सकता है, ऐसी जीस जीवकी धारणा नही है, वह जीव परावलम्बी मिथ्यादृष्टि है । घरमें रहने से प्रमाद होता हैं, और मुनिकी वाणी सुनने से ही कल्याण होना यह अभिप्राय मिथ्यात्व का ही है। घर में प्रमाद कौन करता है ? प्रमाद करनेवाला अपना ही आत्मा है, घर विचारा क्या करे ? मुनि की वाणी सुनकर निर्धार तो मेरा ही आत्मा करेगा, या मुनि करादेंगे, ऐसा जिसको ज्ञान नही हैं उस जीवकी दृष्टि निरतर परद्रव्य पर ही रहती हैं, जिसको पर-आत्मा पर श्रद्धा है और अपने आत्मा पर अश्रद्धा है वह जीव मिथ्यादृष्टि है। दृष्टि का अर्थ रुचि, धारणा, प्रतीति, विश्वास करना है। दृष्टि का अर्थ देखना नहीं है, क्योंकि देखना मिथ्यात्व का कारण नहीं है, देखना तो आत्मा का स्वभाव है, वह मिथ्यात्वका कारण नहीं हो सकता है, मिथ्यात्व का कारण विपरीत रुचि, विपरीत श्रद्धा, विपरीत विश्वास, विपरीत प्रतीति आदि है।

करणानुयोग संयोग का ज्ञान कराता है, संयोग संबन्ध करणानुयोग में ही होता है। द्रव्यानुयोग संयोग सबन्ध स्वीकार नही करता है, द्रव्यानुयोग मात्र तादात्म सबन्ध अर्थात् परिणाम परिणामी (कर्ता–कर्म) सबन्ध स्वीकार करता है। करणानुयोग में ही निमित्त नैमित्तिक सबन्ध होता है। जिस अपेक्षासे निमित्त–नैमित्तिक सबन्ध की प्ररूपणा होती है, अर्थात् निमित्त–नैमित्तिक सबन्ध साबित होता है, उसीका खंडन यदी कोई द्रव्यानुयोग से अर्थात् कर्ता कर्म सबन्ध से करता है, तो वह जीव को शास्त्र का ज्ञान नही है। ऐसा कहा जावे तो अयोग्य नहीं है। क्योंकी यह सबे अनुयोग परस्पर विरोधी अर्थात् अलग अलग अपेक्षा से ही कथन करते है। यही बात समयसार ग्रन्थ गाथा १२ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रसूरिए कलश ४ में कही है कि

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके,
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चै–
रनवमनयपक्षाभीक्षुण्णमीक्षंत एव ॥ ४ ॥

अर्थ—निश्चय व्यवहाररूप जो दो नय तिनिके विषय के भेद तैं परस्पर विरोध है, तिस विरोध का दुर करनहारा स्यात्पदकरि चिन्हित जो जिन भगवान का वचन तिस विषै जे पुरुष रमे है, प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करे है, ते स्वयं

कहिये स्वयमेव विना कारण आपोआप चम्या है मोह कहिये मिथ्यात्व कर्म का उदय जिनिनैं ते पुरुष इस समयसार जो शुद्ध आतमा अतिशय रूप परमज्योति प्रकाशमान ताहि शीघ्र ही अवलोकन करे हैं। कैसा है समयसार ? अनव कहिये नवीन उपज्या नाही हैं, कर्मतैं आच्छादित था सो प्रगट व्यक्तिरूप भया है। बहुरि कैसा है ? अनय जो सर्वथा एकान्त रूप कुनय ताकी पक्षता करि अक्षुण्ण कहिये खंड्या न जाय है निर्बाध है।

द्रव्यानुयोग उपादान का, अर्थात् कर्ता कर्म, परिणाम, परिणामी सबन्ध का ही प्रतिपादन करता है, जब करणानुयोग निमितका अर्थात् निमित्त–नैमित्तिक सबन्ध का ही प्रतिपादन करता है। इसलिये किस अनुयोग किस प्रकार से कथन करता है उसका ठीक २ ज्ञान होना चाहिये इसके अलावा शास्त्र पढने से ठीक २ लाभ नही होता है।

नय मात्र एक अंग का ही ज्ञान कराता है, मात्र एक अंगका ही ज्ञान प्रमाण ज्ञान नहीं है दोनो तरफ का अर्थात् सामान्य, और विशेष का ज्ञान करना वही प्रमाण ज्ञान है। द्रव्य द्रष्टि मात्र ज्ञायक स्वभाव को ही ग्रहण करती है, अर्थात् अखंड द्रव्य को स्विकार करती है। यदि कोइ ऐसा कथन द्रव्य द्रष्टि से करे की, आत्मा ज्ञायक स्वभावी है, और वह समय समये वीतराग दशा को

और जा रहा है तो उसीको यथार्थ में द्रव्यद्रष्टि का ज्ञान नहीं है। आत्मा समय समय में वीतराग दशा की ओर जा रहा है वह व्यवहार दृष्टि अर्थात् पर्याय दृष्टिका ही कथन है। पर्यायदृष्टि अवस्थाका ही ज्ञान कराती है।

कथन करनेकी शैली अलग अलग होने से द्रव्य अलग २ रूप नही हो जाता, द्रव्य तो जैसा है वैसाही है, परन्तु द्रव्य का प्ररूपण करने की रितियां दो प्रकारकी है १ निश्चय से अर्थात् उपादान से कथन करना २ व्यवहार से अर्थात् निमित्त से कथन करना। उपादान से कथन करने से ही द्रव्य उपादान रुप नही हो जाता है, और व्यवहारसे, निमित्त से, पर्याय से कथन करने से द्रव्य निमित्त रुप नही होजाता है, वह तो जैसा है तैसाही है। उपादान से कथन करनेवाले की दृष्टि यथार्थ है, और निमित्त की ओर से कथन करनेवालेकी दृष्टि निमिताश्रीत है, ऐसा अभिप्राय करनेवाला को यथार्थ ज्ञान नही हैं। यह तो मात्र कथन करनेकी शैली है उसके पर से सम्यग्दृष्टि, या मिथ्यादृष्टि का निर्णय नही हो सकते। आध्यात्मिक शास्त्रो से आगम शास्त्रो बहोत है एवं दोनो प्रकार के शास्त्रो एक ही आचार्यश्रीने बनाया है, तब वहां सम्यग्दृष्टि, और मिथ्यादृष्टि किसि को कहोंगे? कथन तो श्रुतज्ञान का विषय है, और दृष्टि श्रद्धा गुण का विषय है, दोनो अलग अलग गुणो की परिणति हैं, इसलिये कथन कोई भी

अपेक्षा से कहा जावे तो भी जीवकी दृष्टि यथार्थ है वही जीव सम्यगदृष्टि ही है।

करणानुयोग ज्ञान चेतना चतुर्थ गुणस्थान से स्विकार करता है, जब द्रव्यानुयोग ज्ञान चेतना मात्र तेरमे गुणस्थान से ही स्विकार करता है। तो भी उसमें विरोध नहि मान किस अपेक्षा से कथन कर रहा है इसीका यथार्थ ज्ञान करलेना चाहिये। करणानुयोग एक ही समय में एक गुण की मिश्र परिणति स्वीकार करती है। जितने अंश में प्रतिपक्षी कर्म का अभाव हुआ है उतने ही अंशमें ज्ञानधारा और जितने अंशमें प्रतिपक्षी कर्म का सद्‌भाव है उतने ही अंशमें कर्मधारा स्विकार करती है. जैसे एक मनुष्य को १०५ डीग्री ज्वर था उसीको दुसरे दिन दो डीग्री ज्वर कम होगया। उसी काल में उसी की तबीयत अच्छी है ऐसा कहा जाता है तो भी विचार करना चाहिये कि, वह जीव दो डीग्री ज्वरका अभावका सुखका वेदन करता है या १०३ डीग्री ज्वर का सदभाव का वेदन करता है। यही बात समयसार पुण्यपापाधिकार में कलश ११० में अमृतचंद्राचार्यने कहा है कि

यावत्पाकमुपैति कर्म विरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय
तन्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानविमुक्तं स्वतः॥

अर्थ— जैते कर्म उदय है, और ज्ञान की सम्यक् विरति नाही है, तेतै कर्मका और ज्ञान का समुच्चय कहिये एकठापणा भी कहा है, तेतै यापै किन्छु हानि नाही है। इहां विशेष ऐसा जो इस आत्मा विषै जो कर्मके उदय की बरजोरीतै आत्मा के वश विना कर्म उदय होय, सो तो बंधके ही अर्थि हैं। बहुरि मोक्ष के अर्थि तो एक परम ज्ञान है सो ही है। कैसा है ज्ञान ? कर्मते आप ही तै रहित है, कर्म करने विषै आप का स्वामी पणा रुप कर्तापणा का भाव नहि है।

परन्तु द्रव्यानुयोग एक समय में एक ही गुण की दो अवस्था स्विकार नही करता है। द्रव्यानुयोग में एक समय में एक ही अवस्था होती है वही बात भगवन्त कुंदकुंदस्वामीने प्रवचनसार की गाथा ८ में कहा है कि,

परिणमादि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्म परिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥

अर्थ—द्रव्य जीस काल में जीस भाव से परिणमता है उसी काल में वह तन्मय है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते है, इसलिये धर्म परिणत आत्मा धर्म जानना।

एवं समयसार ग्रन्थ को आश्रव अधिकार गाथा १७१ की टीका में अमृतचन्द्राचार्यने भी कहा हैं कि,

ज्ञान गुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः, तावत् तस्यांत मुहूर्त विपरिणामित्वात पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः। स

तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्थादवश्यं माविराग सद्‌भावात् बंधहेतुरेव स्यात् ।

अर्थ—ज्ञानगुण का जेतै जघन्य भाव है—क्षयोपशमभाव है, तेतैं अंतर्मुहूर्त विपरिणामी है, ज्ञानभावरुप अंतर्मुहूर्त ही रहे है, पीछे अन्य प्रकार परिणमे है । तातै अन्यपणारुप भी याका परिणाम है, सो यथाख्यात चारित्र अवस्था के नीचे अवश्यंभावी राग परिणाम का सदभाव है, तातै बंधका ही कारण है, अर्थात् बंधका ही अनुभव करता है ।

इसलिये अनुयोग का प्रथम में प्रथम यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने से ही जीव मोक्षमार्ग में लगशकता है क्योंकि जैनागम में अनेक अपेक्षा से कथन कीया हुआ है ।

समयसार ग्रन्थ में निर्जरा अधिकार में गाथा १–१९३ में कहा है कि—

उवभोजमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाण मिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी ते सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१९३

अर्थ—सम्यग्‌दृष्टि जीव जो इन्द्रियकरि चेतन अचेतन जे द्रव्य तिनका उपभोग करे है, तिनिकु भोगवे है, सो सर्व ही निर्जरा के निमित्त है ।

सम्यग्‌दृष्टि को भोग करने से निर्जरा ही होता है ऐसा इसीका अर्थ नही करना चाहिये । भोग करने का जो भाव है वह तो नियम से पाप का ही भाव है परन्तु

इदरमें सम्यक् कि महत्ता दिखलानी है इस अपेक्षा से ही कहा है कि, देखो, सम्यंगूदर्शन का महिमा कि भोग करते भी उसीको मिथ्यात्व एवं अनंन्तानुबंधी का बन्ध नही पडते जब द्रव्यलिंगी मुनि पीछीसे जीवकी दया पाल रहा है तो भी उसीको मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी का भी बन्ध पडते है। यह तो सम्यक्दर्शन का महिमा दिखाया है, परन्तु जब सम्यक् चारित्र की बात करते है, अर्थात् उसकी महिमा दिखाते है तब वही आचार्य मूलाचार ग्रन्थ के दशमे समयसाराधिकार में गाथा ५२ में कहते है कि,

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थि ण्हाणं चुंदुच्छिदकम्मं तं तस्स ॥५२॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि का तप उपकारक नहीं है, तो सम्यक्दृष्टि का तप महोपकारक है ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, सम्यगदृष्टि का तप भी हस्तिस्नान जैसा है एवं काट मिस्त्री का हथियार छेद पाडनेवाला जो सायडी है उसीकी रस्सी के सम्मान है अर्थात हाथीस्नान करके और विशेष धुली डालने से पानी के सबब विशेष चपक जाती है एवं सायडी की रस्सी का एक हीस्सा जब छोटा होता है तब दुसरा हीस्सा लम्बा होजाता है इस न्याय से अविरत सम्यगदृष्टि को जो तप से निर्जरा होती है उससे विशेष बन्ध अविरत भाव से होता है।

देखिये कथन करने के सहेली जहां मात्र सम्यक्दर्शन की ही महिमा दिखाना है वहां तो सम्यगदृष्टि का भोगको भी निर्जराका हेतु कह दिया और जहां सम्यक्चारित्र की महिमा दिखाना है वहां अविरत सम्यगदृष्टि का तपको भी हाथीके स्नान जैमा कहा, यह तो कथन करने की शैली है; तो भी किस अपेक्षा से कथन कीया है उसका यथार्थ ज्ञान करने से ही लाभ होता हैं।

केवली भगवन्त की वाणी अबुद्धिपूर्वक सहज खिरती है, ऐसे ही छद्मस्थ जीवो की वाणी सहज खिरती है, ऐसा कहनेवाले जीवो को यथार्थ ज्ञान नही है ऐसा कहा जावे तो अयोग्य नही है। वाणी पुद्‌गलकी अवस्था है, जीव उसका उपादान कर्ता नही है, इस अपेक्षा से यही मात्र कहा जावे तो दो इन्द्रिय जीव से पंचेन्द्रिय जीव को सब को वाणी सहज खिरती माननी चाहीये। वाणीरूपी पुद्‌गल तो जड की अवस्था हैं, उसको तो ज्ञान नही है, तब सत्य और हीत-मीत वचन बोलना, सत्यमहाव्रत अंगीकार करना; भाषा-समिति का पालन करना, वचनगुप्ति धारण करना आदि जो उपदेश है वह किसके लिये दिया गया है? जड तो अन्धा है, उसीको उपदेश देने से क्या लाभ? इसका विचार करना चाहिये। छद्मस्थ जीव ऐसा कहे कि जो वाणी आनेवाली है वही आवेगी वह तो मात्र दंभ है, छल है, इच्छापूर्वक ही

बोलना और कहना कि जो वाणी आनेवाली है वही आवेगी वह तो मात्र मायाचारी है। छद्मस्थ जीवों की वाणी नियम से स्वाधीन अवस्था में बुद्धिपूर्वक ही खिरती है, और इच्छा विना वाणी खिरती होगी तो वह नियम से पराधीन अवस्था में ही खिरती होगी। यदि वाणी की साथ में आत्मा का कोइ प्रकार का संबन्ध नही है तो पुरुषप्रमाण से वचनप्रमाण क्यों कहा ? छद्मस्थ की वाणी नियम से वन्ध के ही कारण होती है, और केवली भगवन्त की वाणी वन्ध के कारण नही है, यही वात भगवन्त कुंदकुंदस्वामीने नियमसार ग्रन्थ के शुद्धोपयोग अधिकार में गाथा १७३-१७४ में कहा है कि-

परिणामपुव्ववयणं, जीवस्स य बंधकारणं होइ।
परिणामरहियवयणं, तह्मा णाणिस्स ण हि बंधो॥
ईहा पुव्वं वयणं, जीवस्स य बंधकारणहोई।
ईहारार्हियवयणं, तह्मा णाणिस्स ण हि बंधो॥१७४॥

अर्थ—मन के परिणमनपूर्वक जो वचन जीव के निकलते है, वे वन्ध के कारण होते है, परन्तु जो वचन मन के परिणति के विना निकलते है वे वन्ध के कारण नही है इसलिये केवलज्ञानी भगवन्त को वंध नहीं है। जो वचन इच्छापूर्वक जीवके होवेग वे वचन वधके कारण होवेगे, परन्तु जो वचन वांछा रहित है, सो वन्ध के कारण नही है, इसलिये केवलज्ञानी भगवन्त को वन्ध नही है।

यद्यपि वाणी के और आत्मा के योग उपयोग के कर्ता कर्मपणे का अभाव है तो भी निमित्त नैमित्तिक भाव करि दोऊ ही के कार्य देखिये है, यही बात समयसार ग्रन्थ की गाथा ३१२-३१३ की टीका में आचार्यवर अमृतचन्द्र-सूरीए कही है। इसलिये छद्मस्थ की वाणी सहज नही खिरती है परन्तु बुद्धिपूर्वक ही खिरती है ऐसा श्रद्धान करना चाहिये।

तत्त्वार्थसूत्र का नवमा अध्याय के तीसरा सूत्र में लिखा है कि "तपसा निर्जरा च" अर्थात् तपसे निर्जरा और संवर होते है। यथार्थ में यदि विचार किया जावे तो उपवासादि तपसे निर्जरा होती ही नहीं है। यह तो शुभोपयोगरुप आत्मा का परिणाम है इस से पापकी निर्जरा और पुण्य का बंध होता है ? तपका लक्षण इच्छानिरोध से तप कहा है। मात्र खानेका भावका अभाव करने से तो तप कहा नही जावे। इदर तो सब प्रकार की इच्छा का अभाव करने से ही निजरा कही है, न की मात्र खानेका भाव न करने से निर्जरा की है। आप शोचीये कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव बहोत उपवास करता है, और पंचम गुणस्थानवर्ती जीव एक दफे भोजन करता हैं। यह दोनोमें निर्जरा किसको विशेष होती है एवं शान्ति भी किसको विशेष होती है। चतुर्थ गुणस्थान से पंचमगुणस्थानवर्ती जीव में विशेष शान्ति एवं निर्जरा होती है। इससे साबित हुआ कि तपसे निर्जरा होती नही है परन्तु

मात्र पुण्य का ही बन्ध पडता है, यही बात प्रवचनसार ग्रन्थ में भगवन्त कुंदकुंदस्वामीने गाथा ६९ में कहा है कि,

देवदजदिगुरु पूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥ ६९ ॥

अर्थ—देव, गुरु और यति को पूजामें, दानमें, सुशीलोंमें तथा उपवासादि में जो आत्मा को प्रीति है, वह सब शुभोपयोग रुप आत्मा के परिणाम है।

कर्म की साथ में आत्मा का सयोग संबन्ध है। संयोग संबन्ध का अर्थ एक क्षेत्रावगाही रहना ऐसा प्राय करके अर्थ करते है परन्तु इस में गलती होती है। एक क्षेत्रावगाही तो सब द्रव्य रहते है। जीस आकाश के क्षेत्र में आत्मा है उसी क्षेत्रमें आकाशद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, अनंत पुद्गल वर्गणा, और अनंत जीव द्रव्य भी रहते है तो भी आत्मा का उसी द्रव्यों की साथ संयोग संबन्ध नहीं है। संयोग संबंध एक ही क्षेत्र में रहते संते जीस की साथ विशिष्ट तर परस्पर अवगाह उसीका नाम संयोग सबन्ध है। जीस को उभय बन्ध भी कहते है। यही बात श्री कुंदकुंदस्वामीने प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञेयाधिकार में गाथा १७७ में कहा है कि।

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णमवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥१७७॥

अर्थ—स्पर्शों साथ पुद्गल का बन्ध है, रागादि साथ जीव बन्ध है, और अन्योन्य अवगाह वही पुद्गल जीवात्मक का उभय बन्ध कहा जाता है।

जीवने आगम ज्ञान बहोत दफे प्राप्त कीया परन्तु तो भी आत्मा का कल्याण क्यों नहीं हुआ उसका यदी शान्त चित्त से पक्षपात छोडकर विचार किया जावे तो नियम से मालुम होगा कि. आत्माने आगम अभ्यास करते सन्ते आगम की एक भी बात मानी नही है। जहां जहां आगम में अपना राग पुष्ट हुए ऐसी जो जो बात देखी, वही बातो मात्र ग्रहण कि है, यही मिथ्यात्वगर्भित रागने ही आत्मा को अनंत संसार का भाजन बना रखा है। मात्र व्यवहार नय के पक्षवाले जीवने जहां जहां मात्र दिगम्बर नग्न मुद्रा देखी वहां परिक्षा किया वीना ही गुरु मानने में जरा भी विवेक नहीं किया हैं। अठावीस मूल गणों का यथार्थ पालन करते है, या नही उसपर भी मात्र मिथ्यात्व मिश्रित राग के कारण विवेक नहीं किया। एवं जीस जीवोने मात्र निश्चय नय के पक्ष है वही जीवोने आत्मा का शुद्ध स्वरुप शास्त्रो में कैसा लिखा है, वह मात्र शब्दद्वारा कंठस्थ कर परिग्रहधारि में भी गुरु संज्ञा करने में विवेक तो नहीं किया परन्तु इससे उलटा विपरीत ऐसा परिग्रहधारी को गुरुदेव आदि विशेषणो देने में अपना गौरव समजता है। यह सब मिथ्यात्व मिश्रित ही

राग भाव है। मिथ्यात्व में क्या क्या नही होता है। देखिये हिंसा में प्रत्यक्ष सब जीवो पाप ही मानते है तो भी तीव्र मिथ्यात्व में आत्मा काली देवी आदि को भैसा का बलिदान देकर अपने को धर्म हुआ ऐसा मानता है। यही भाव मिथ्यात्वकी ही बदौलत है। विशेष कर पाप तो दृष्टि में आते हैं और जीवो पाप को पाप अंशमें जानते भी है परन्तु मिथ्यात्व ऐसा परिणाम है कि वह जहां धर्म की गंध भी नही है वहां धर्म मना देता है। अनादि काल से यह आत्माने कुदेव में देवकी मान्यता, कुगुरु में, गुरुकी मान्यता और अधर्म में धर्म की मान्यता कर संसारके पात्र बन रहा है। ऐसी गलती तो बहोत दफे आत्माने छोडी है, परन्तु पुण्य भाव को धर्म मानने का कभी नहीं छोडा है। सूक्ष्म मिथ्यात्वरुप परिणाम इतना ठगारा है कि, वह पुण्यभाव में तुरत धर्मबुद्धि करा देता है। यही अनंत संसार की महाजड है। यही संसार की जननी है। इसलिये अपना परिणामों का आगम द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना यही मोक्षका मार्ग है। पुण्य-भाव में धर्मबुद्धि कर आत्मा अपने को धर्मात्मा मान लेता है। जो जीव साधारण पुजा करता है और आगे बढकर यदि शुद्धाहार लेने को लगा, तहां तो वही अपने को धर्मात्मा ही मान लेता है, परन्तु इतना ही ज्ञान नही है, कि यह पुण्य भाव है या धर्मभाव है।

अनंतकाल से आत्मा का अभिप्राय में कहा दोष रह जाता है, वही भगवन्त कुंदकुंदस्वामीने समयसार ग्रन्थ के पुण्यपापाधिकार में गाथा १५४ में कहा है कि–

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥ १५४ ॥

अर्थ—जे जीव परमार्थ तैं बाह्य हैं, परमार्थभूत ज्ञायक स्वभावी आत्माकूं नाही अनुभवे है, ते जीव अज्ञान करि पुण्यकूं इष्ट माने हैं, पुण्य को ही धर्म माने है, कैसा है पुण्य? संसार के गमनकूं कारण है, और आत्मा कैसा है? मोक्ष का कारण ज्ञायक स्वभावी आत्मा को नाहीं जानते संते पुण्य ही कूं मोक्ष का कारण माने हैं।

एवं बंधाधिकार की गाथा २७५ में भी कहा है कि

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥

अर्थ—संसारवर्धक जो पुण्यधर्म है जो भोग मीलनेका ही मात्र कारण है उसीका ही मिथ्यादृष्टि जीव प्रतीति करे है, उसीका ही रुची करे हैं, उसीको ही स्पर्शे हैं, और मोक्ष का कारण जो वीतराग धर्म अर्थात् मात्र ज्ञायक स्वभाव है उसीको नाही श्रद्धे है, नाही प्रतीति करे है और कर्म क्षय का कारण जो स्वभाव मात्र है उसीको नाही रुचे है नाहीं स्पर्शे हैं।

अनंतकाल से आत्माने एक समय मात्र भी अपना स्वभाव भाव जो मात्र ज्ञापक स्वभाव है, उसीकी तरफ दृष्टि भी नही की है, और संसार भोग का कारण जो पुण्यभाव है उसी में ही धर्म मानकर अनंत संसारका भाजन बन रहा है इसलिये मोक्ष का इच्छुक जीवो ने पर्याय बुद्धि और पुण्य-भाव में जो धर्म बुद्धि है वही को नाश कर अपना ज्ञायक स्वभाव की रुचि करना यही मात्र कल्याणका ही मार्ग है ।

यथार्थ में ज्ञाता द्रष्टा ही रहना वही धर्म भाव है; अर्थात् जीतने अंशमें रागद्वेष की निवृत्ति हुइ है वही मात्र धर्मभाव है; बाकी के सब भाव आश्रव भाव ही है, ऐसी श्रद्धा करना चाहिये ।

वर्तमान काल में विशेष कर गृहस्थो अभक्ष अमर्यादित आहार लेते है । दिगम्बर जैन मुनिओं को किस प्रकार से और किस विधि से आहार दान देना चाहिये इसका भी यथार्थ ज्ञान नहि है । इस कारण से आहार दान देने में जो लाभ होना चाहिये इस से वही जीव वंचित रह जाता है । मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि कब और कोन अवस्था में बोलना चाहिये इस का भी दातार को ज्ञान नहि है । जीस दातारने मुनिके लिये ही चोका लगाया है, उस दाता को यह शुद्धि बोलने से उद्गम नाम का दोष लगता है, और मुनिमहाराज को उद्दिष्टादि दोष लगता है वह उसीको ज्ञान

नहि हैं । जो दातार नियम से रोजंदा शुद्ध आहार लेते है वही दातार यथार्थ में मुनिमहाराज को दान देने के लिये अधिकारि है । क्योंकि उसने जो आहार बनाया है, वह मुनि-महाराज के लिये नही बनाया है परन्तु अपने निज के लिये बनाया है । जो आहार बनाने में मनसे भी विकल्प न हुआ हो कि मैं मुनि के लिये बना रहा हुं, वचन से भी ऐसा कथन न किया हो कि मैं मुनि के लिये बनारहा हूं, कायसे भी ऐसी क्रिया न कि हो कि मैं मुनि के लिये आहार बना रहा हूं ऐसा दातार को मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि बोलनेका अधिकार है । इस से सब से उत्तम यही है कि जब अपने गाम में मुनि महाराज पधारे, तबसे अपनी अपनी शक्ति के अनुकुल ऐसी प्रतिज्ञा करना चाहिये कि मैं इतना दिन, मास तक शुद्ध ही आहार लेऊंगा, जिस से वही दातार मुनि आहार देने में यथार्थ लाभ उठासकता है. और उद्गम आदि दोषो से बच शकता है । और मुनिमहाराज भी उद्दि-ष्टादि आहार से बच जावे ।

बहोत जीवो ऐसा देखने में आते है कि, जब पात्र जीवो को आहार लेते वख्त अंतराय आजाती है तब दातार ऐसा कहते है कि हमारे दान अंतराय कर्म का उदय आया जिससे पात्रको अंतराइ आगइ । परन्तु अंतराय कर्म का उदय आपको आवे और उसीका फल पात्र जीवों को भोगना पडे यही मान्यता

हो मिथ्यात्व की ही है। खुद पात्र जीवका लाभांतराय कर्म का उदय होने से हो पात्र जोवको अंतराय हुई है। इस समयमें दातार को तो पुण्यका ही बंध पड रहा है। एवं पात्रको जो आहार लेनेका भाव था वह तो पाप भाव था और अंतराय आने से यदि कोई प्रकार का ऊहापोह न करे तो उसीको भी आहार न लेनेरुप जो भाव हुआ है, उसे उसको पुण्यबंध हो जाता हैं ।

बहोत दातार के घर में मध्यम या जघन्य पात्र आहार लेने को आया है तो भी दातार कि ऐसी भावना रहती है कि यदि मेरा आहार मुनिमहाराज को दिया जावे तो मुझको विशेष पुण्यबंध होगा, यही समजकर पात्र को अपने घर बिठाकर तुरन्त अपनी घरकी सामग्री लेकर मुनिमहाराज को आहार दान देनेके लिये दोडते है। यही उचीत मार्ग नहीं है, इस अभिप्राय में विपरितता रहजाती है । पुण्यबंध का कारण आहार और भोजन की सामग्री नहि हैं । पुण्यबंध का कारण तो मात्र मंद कषायरुप आतमा का ही परिणाम है । वहा परिणाम तो मध्यम जघन्य दातार को आहार दान देने में करसकते थे परन्तु जहां मान्यता में ही विपरितता है, वहां हो जीवो ऐसी मिथ्या कल्पना कर लेता हैं। इसलिये वस्तु का यथार्थ स्वरुप जानकर कार्य करने से ठीक २ लाभ होता है ।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। आत्मा का प्रदेश चलाचल है। नाभी के पास जो आठ रुचक प्रदेश है वह अचल है और बाकी के प्रदेश चलायमान है, अर्थात् घुमता है। यह कथन सुनकर कोइ कोइ ऐसा कहते है कि आत्मा का अमुक प्रदेश शुद्ध है, और अमुक प्रदेश अशुद्ध है। ऐसा कहना उसी का गलत है। आत्मा अखंड द्रव्य है उसीका असंख्यात टुकडा नहीं है। यह तो आत्मा को एक शुद्ध पुद्गल परमाणु से मापा जावे तो वह असंख्यात पुद्गल परमाणु जीतना लंबा है, उस अपेक्षा से आत्मा को असंख्यात प्रदेशी कहा है। यह अष्ट रुचक प्रदेश की अपेक्षा से अमुक जीवों का ऐसा कहना है कि आत्मा का योग नाम का गुण एक ही समय में संकम्प और अकम्परूप रहता है। यह उसीका कहना गलत है। एक समय में योग गुण की एक ही अवस्था रहेगी। चौदवा गुणस्थान के पहेले समय में ही वह योग गुण की निर्मल अवस्था अकम्परुप होती है और तेरवा गुणस्थान का छेल्ले समय तक वही योगगुण की अशुद्ध अवस्था सकम्परुप रहती है। इसी प्रकार क्रियावती शक्ति की भी जबतक आत्मा के साथ द्रव्य कर्मका संयोग सम्बन्ध है तबतक अशुद्ध अवस्था ही रहती है अर्थात् चौदवा गुणस्थान के छेल्ले समयतक अशुद्ध अवस्था रहती है।

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध की गाथा २७ में लीखा है कि,

चा संभवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं ।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥ २७ ॥

अर्थ—क्रिया तथा भाव का जो कथन किया है वह असिद्ध नहीं है क्यों कि सब पदार्थ प्रति समय परिणमन करते रहते हैं, उसी परिणमन में कभी २ जीव व पुद्गल द्रव्य हलनचलन करते हैं।

इसीका अभिप्राय में बहोत महाशयो भूल करते हैं, और अपने बनाये शास्त्र मे भी अपनी मिथ्या मान्यता अनुकूल लीख देते है। जीव और पुद्गल में ही क्रियावती शक्ति है, जो शक्ति का कार्य हलनचलन है। पुद्गल परमाणु को शुद्ध द्रव्य कहते है, और उसीका स्कन्ध होना वही पुद्गल की विकारी अवस्था है। पुद्गल शुद्ध अवस्था में से अशुद्ध होते हैं और अशुद्ध में से शुद्ध भी होवे हैं, परन्तु जीव द्रव्य की ऐसी बात नहीं है. जीव द्रव्य अनादि काल से अशुद्ध ही है, परन्तु वह शुद्ध हुआ बाद कभी भी अशुद्ध होता नहीं है, क्यों कि अशुद्ध होने में कर्म का संयोग कारण थे और कर्म का संयोग का कारण का अभाव होजाने से बाद में वह अशुद्ध होता ही नही है, । जो जीव द्रव्य की शुद्ध अवस्था हो गई वही तो क्रियावान नही है परन्तु संसारी जीव भी कभी २ क्रियावान होते है ऐसी जीसकी मान्यता है वही गलत है। संसारी आत्मा नियम से ही क्रियावान ही है क्यों कि वह

जीव की अशुद्ध अवस्था है। अशुद्ध अवस्था में आत्मा क्रियावान ही रहता है, यही बात श्री प्रवचनसार ग्रंथ के ज्ञेयाधिकार में गाथा ३७ की टीका में आचार्यवर अमृतचन्द्रसूरि लिखा है कि;

जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति।

अर्थ—इसी तरह जीव भी कर्म के संयोग से हलन चलनरूप होता हुआ, नवीन कर्म नोकर्मरूप पुद्गल से मिलता है और पुराने कर्म नोकर्म पुद्गलो से बिछुडता है, इस कारण उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सहित हुआ क्रियावाला है।

आत्मा के हरेक गुणो की दो ही अवस्था होती है १ शुद्ध, २ अशुद्ध। अनादि काल से अशुद्ध अवस्था ही है परन्तु जब वह अवस्था शुद्ध परिणमन करती है बाद में वह कभी भी अशुद्ध होती ही नही है, एक काल में एक ही अवस्था होगी। अशुद्ध अवस्था नियम से सापेक्ष है, और शुद्ध अवस्था नियम से निरपेक्ष है। इसलिये जबतक आत्मा की साथ कर्म का संयोग है तबतक क्रीयावती शक्ति नियम से अशुद्ध परिणमन करती है। कभी २ संसार अवस्था में शुद्ध, अशुद्ध परिणमन करती है, वह मान्यता गलत है।

आगम अभ्यास करने के पहिले किस २ अनुयोग में किस २ प्रकार लिखा जाता है इसका ठीक ज्ञान करना वडा आवश्यक है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाने की संभावना है।

भावकर्म—उसे कहते है कि आत्मा में जो रागादिक परिणाम होता है उस परिणाम का नाम भाव कर्म है।

द्रव्यकर्म—उसको कहते है कि—आत्मा के रागादिक परिणामों का कारण पाकर कार्मण वर्गणा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरूप अवस्था को प्राप्त होती है, उसे द्रव्यकर्म कहते है। आत्मा के रागादिक परिणाम के साथ कर्मका निमित्त नैमित्तिक संबन्ध है, यह बात भगवंत कुंदकुंदस्वामीने समयसार ग्रन्थ के सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार की गाथा ३१२-३१३ में कहा है कि,

चेया उपपडीयट्ठं, उपज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं, उपज्जइ विणस्सइ ॥ ३१२ ॥
एवं बधोउ दुण्हंपि, अण्णोण्णप्पच्चयाहवे।
अप्पणो पयडी ए, य संसारो तेण जायए ॥३१३॥

अर्थ—चेतनवाला आत्मा तो ज्ञानावरणादि कर्म की प्रकृतियो के निमित्त से उत्पन्न होता है, तथा विनसता है, और प्रकृति भी उस चेतनवाले आत्मा के लिये उत्पन्न होती है, तथा विनाश को प्राप्त होती है। आत्मा के परिणामो के निमित्त से उसी तरह परिणमति है, इस तरह दोनो, आत्मा

और प्रकृति के परस्पर निमित्त से बंध होता है, और उस बंध कर संसार उत्पन्न होता है।

नोकर्म के साथमें आत्मा का निमित्त नैमितिक संबन्ध नहीं है, परन्तु निमित्त उपादान संबन्ध जरूर है। अर्थात् निमित्त नैमित्तिक सबंन्ध कर्म के उदय में ही होता है. और निमित्त उपादान संबन्ध कर्म की बुद्धिपूर्वक उदीरणा में ही होता है। निमित्त उपादान संबंध में उपादान उपादान ही है, और निमित्त, निमित्त ही है, निमित्त कभी भी उपादान नहीं होते है, और उपादान कभी भी निमित्त नही होता है। परन्तु निमित्त–नैमित्तिक सबंन्ध में दोनो उपादान भी है, और दोनो निमित्त भी है। अर्थात् दोनो निमित्त भी है और दोनो नैमित्तिक भी है। जीस की और से कथन कहा जावेगा वही उपादान है, और दुसरा पदार्थ निमित्त ही है, अर्थात् जीस पदार्थ की और से कथन कहा जावेगा वही नैमित्तिक है, और दुसरा पदार्थ निमित्त ही है, क्यों की दोनो पदार्थ में परस्पर समान अवस्था होती हैं, इस-लिये एक पदार्थ दुसरा पदार्थ के लिये निमित्त हैं। जैसे कर्मका उदय आत्मा के रागादिक के लिये निमित्त है, और आत्मा का रागादिक नया कर्मबंध के लिये निमित्त है, अर्थात् आत्मा का रागादिक परिणाम कर्म के उदय में नैमितिक हैं, और वही परिणाम कर्म के नवीन बंधअवस्था में निमित्त

भी है ऐसी अवस्था निमित्त उपादान संबंध में नही होती है।

नोकर्म— उसे कहते है कि आत्मा और कर्म का उदय इन को छोडकर संसार के सब पदार्थ अर्थात् अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल वर्गणा, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य देव गुरु शास्त्रादि सब पदार्थ नोकर्म है। नोकर्म दो प्रकारका होते हैं। १ बद्ध नोकर्म, २ अबद्ध नोकर्म शरीर आदि बद्ध नोकर्म है, और बाकी के पदार्थ अबद्ध नोकर्म है. बद्ध नोकर्म की क्रियावती शक्ति के साथ आत्मा का निमित्त नैमित्तिक संबंध है, और अबद्ध नोकर्म की साथ निमित्त उपादान संबन्ध है.

स्वाभाविक परिणमन—आत्मा के गुणोका निरपेक्ष परिणमन होना उसका नाम स्वाभाविक परिणमन है। स्वभाविक परिणमन में कोइ पदार्थ का सहारा लिया नही जाता है।

वैभाविकपारिणमन—नियम से ही परद्रव्य की पर्याय का आश्रय लेता है, उसको सापेक्ष पर्याय कहते है। आत्मा में कर्म के उदय में ही रागादिक परिणति होती है। यदि कर्म के उदय के विना हि आत्मा रागादिक करेगा तो, रागादिक आत्मा का स्वभाव भाव कहा जावेगा। क्यों कि स्वभाव परिणमन में परद्रव्य के आश्रय की जरुरत नहीं है, इसलिये रागादिक स्वभाव भाव होजाने से, उसका तीन काल में नाश नही हो सकता है। यही बात समयसार ग्रन्थ के बंधाधिकार

कि गाथा २८३, २८४, २८५ की संस्कृत टीका में आचार्य अमृतचन्द्रसूरीने लिखा है कि, "आत्मा आप से रागादिक भावों का अकारक ही है, क्योंकि आप ही कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इनके द्रव्य भाव इन दोनो भेदों के उपदेश की अप्राप्ति आती है। जो निश्चयकर अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के दो प्रकार (भेद) का उपदेश है, वह उपदेश द्रव्य और भाव के निमित्त नैमित्तिक भाव को विस्तारता हुआ आत्मा के अकर्तापने को बतलाता है इसलिये सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और नैमित्तिक आत्मा के रागादिक भाव है। यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान इन दोनो के कर्ता पनेके, निमित्त पनेका उपदेश है वह व्यर्थ ही होजायगा, और उपदेश के अनर्थक होने से एक आत्मा के ही, रागादिक भाव के निमित्तपने की प्राप्ति होने पर सदा (नित्य) कर्तापने का प्रसंग आयगा, उस से मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा इसलिये आत्मा के रागादि भावों का निमित्तपर द्रव्य ही रहे, ऐसा होने पर आत्मा रागादिक भावोंका अकारक ही है यह सिद्ध हुआ।

इसलिये श्रद्धा ऐसी रखना कि कर्म के उदय के बिना आत्मा में कभी भी रागादिक नही होते। कर्म के उदय में और रागादिक होने में समय भेद नहीं है। परन्तु कारण कार्य अर्थात् निमित्त–नैमित्तिक भेद है अर्थात् कर्म कारण है–

निमित्त है, और रागादिक कार्य है-नैमित्तिक है।

निमित्त—निमित्त दो प्रकार का होता है एक प्रेरक निमित्त। प्रेरक निमित्त का ऐसा अर्थ नहीं है कि उपादान के स्वचतुष्टय में घुसकर निमित्त कुच्छ कर देता है, परन्तु दोनो में अर्थात् निमित्त और उपादान में अपने अपने उपादान से ही सहज सामान्य अवस्था एक समान होती है, उसीका नाम प्रेरक निमित्त कहते है। अर्थात् निमित्त की मोजुदगी नियम से ही उपादान की कमजोरी दिखाती है। दुसरा उदासीन निमित्त उपादान में जैसी अवस्था होती है ऐसी ही अवस्था उदासीन निमित्त में होती नहीं है, इतना ही प्रेरक और उदासीन निमित्त में अन्तर है।

प्रेरकनिमित्त—आत्मा में कर्म का उदय एक २ समय में होता है, और छद्मस्थ जीव के ज्ञान उपयोग असंख्यात समय में होता है, जहां वस्तुका स्वरुप ऐसा ही है, वहां आत्मा कर्म के उदय में बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ कर ही नही सकता है। जब कर्म का उदय होगा, तब नियम से आत्मा के गुणो अपने उपादान से ही विकास नहि करसकता है। अर्थात् जीतना ही आत्मा के गुणो में विकार होगा उतना ही द्रव्य कर्म नियम से निमित्तरुप से ही होगा। जैसे शरीर में जीतना डिग्री ज्वर होगा उतनी ही डिग्री थर्मामिटर में निश्चित आवेगा। अर्थात् जैसे बारहवे गुणस्थान में जीतना ही ज्ञाना-

वरणी कर्म का उदय होगा, इतनाही ज्ञान गुण विकास नहीं करसकता होगा। देखिये पंचाध्यायी उत्तरार्ध गाथा २९०—२९१—२९२ में कहा है कि—

तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा सतः।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तत्रानन्ताश्च शक्तयः ॥२९०
तेषामावरणान्युच्चैरालापाच्छक्तितोथवा।
प्रत्येक सन्ति तावन्ति सन्तानस्यानतिक्रमात्।।२९१
तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः।
क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्यान्तरं स्वतः।। २९२ ॥

अर्थ—उपर उपर ज्ञान में शुद्धता किस प्रकार आती है ? इसी बात को बतलाते हैं। मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान के असंख्यात भेद है, और उन भेदों में भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदरुप शक्तियां भरी हुई है। जितने मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के भेद है उतने ही उसके आवरण करनेवाले कर्मों के भेद है। उन आवरण करनेवाले कर्मों की भी सन्तान बराबर चलती रहती है, अर्थात् मतिश्रुत ज्ञानना आलोपा के समान ही मतिश्रुतज्ञानावरण कर्म के आलाप भी समान होते है। जिस आलाप (भेद-पटल) के जितने कर्म के अंश का क्षयोपशम होजाता है, उतनी ही ज्ञान की अवस्था दुसरी होजाती है, अर्थात् उतना ही ज्ञान प्रगट रुप में आता है।

तीसरा दृष्टांत जीतना अंश में ही आत्मा में रागादिक

भावो होता है, उतना ही अंश में कार्माण वर्गणा नियम से ही कर्मरुप परिणमन कर जायगी। यद्यपी आत्मा का एक अंश न कर्म में चलाजाता है, और न कर्मका एक अंश आत्मा में चला जाता है तो भी आत्मा का रागादिक परिणाम कार्माण वर्गणा के लिये कर्म होने में प्रेरक निमित्त है । इस के विषय में भगवंत कुंदकुंदस्वामीने समयसार ग्रन्थ के बंधाधिकार में गाथा २७८-२७९ में कहा है कि—

जह्फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु, सोरत्तादीहिं दव्वेहिं ॥ २७८॥
एवं णाणी सुद्धोय सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहि दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है, वह ललाइ आदि रंग स्वरुप आप तो नही परिणमति, परन्तु वह दुसरे लाल काले आदि द्रव्यों से ललाइ आदि रंग स्वरुप परिणमति है। इसी प्रकार ज्ञानी आप शुद्ध है, वह रागादि भावो से आप तो नहीं परिणमता, परन्तु अन्य रागादि दोषो से रागादिरुप किया जाता है। २७८-२७९

जैसे स्फटिकमणि को डाक लगाइ जावेगी, वैसा ही स्फटिकमणि डाक के अनुकुल ही, नियम से परिणमन करेगी। इस गाथा में द्रव्य कर्म का निमित दिखलाया है । कर्म के उदय का नाम ही प्रेरक निमित्त है । प्रेरक निमित्तका काल एक समय मात्र का है, दुसरे समय में दुसरा निमित्त, तीसरे

समय में तीसरा निमित्त आता है। जो कर्म सत्ता में पडा वह प्रेरक निमित्त नहीं है, परन्तु कर्म का उदय ही प्रेर निमित्त हैं। इसलिये जबतक आत्मा प्रकृति के निमित्त उपजना विनाश होना न छोडे तबतक आत्मा अज्ञानी मिथ्य दृष्टि असंयत है, यही बात भगवंत कुंदकुंदस्वामीने समयस ग्रन्थ के सर्व विशुद्धाधिकार की गाथा ३१४–३१५ में क है कि,

जा एसो पयडीयट्ठं चेया णेव विमुंचए।
अयाणओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥३१४
जया विमुंचए चेया कम्मप्फलमणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥३१५

अर्थ—यह आत्मा जबतक प्रकृति के निमित्त से उ जना विनशना नहीं छोडता, तबतक अज्ञानी हुआ, मिथ्य द्रष्टि, असंयमी, होता है, और जब आत्मा अनंत कर्मफल छोडदेता है, उस समय बंध से रहित हुआ ज्ञाता द्रष्टा संय होता है।

उदासीन निमित्त—मेरा आत्मा और कर्म का उद छोडकर, लोक के सर्व पदार्थ अर्थात् अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल वर्गणा, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्र